श्री पुष्टिमार्गीय युवक परिषद्, बम्बई की —

प्राप्य पुस्तकें

-:●:-

			मूल्य
१.	प्रस्थानचतुष्टय मां सर्वात्मभावनुम् स्थान,	गुज.	०·१२
२.	ब्रह्मवाद प्रवेशिका	”	०·४०
३.	गीता का पृथक् शरणमार्ग	हिन्दी	०·३७
४.	बहिर्मुख मुखध्वंस	गुज.	०·२५
५.	अन्याश्रय असमर्पित त्याग	”	०·६२
६.	नित्यस्मरण पोथी	”	०·६२
७.	भक्तिमार्गोपदेशिका	”	०·३७
८.	विज्ञप्ति स्तोत्रसंग्रह : गुर्जरानुवाद सहित : श्रीगुसाईजी, श्रीगोकुलेश, श्रीहरिरायजी		१·२५
९.	भक्तिहँस : संस्कृत टीका व गुर्जरानुवाद सहित		१·२५
१०.	भक्तिहेतुनिर्णय ” ” ”		०·७५
११.	पत्रावलम्बन : श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित : संस्कृत टीका व गुर्जरानुवाद सहित		१.२५
१२.	श्रीमधुराष्टक : श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीत संस्कृत छः टीका व व्रजभाषानुवाद		२·००
१३.	श्रीहरिरायजी कृत “दानलीला” पर आधारित एकांकी नाटिका और पद	व्रजभाषा	०·७५

ग्रन्थ प्राप्ति स्थानः—

१. श्रीगिरिधरलाल जगजीवनदास शाह बुकसेलर,
मोटी हवेली पास, भूलेश्वर, बम्बई—२

२. श्रीपुष्टिमार्गीय पुस्तकालय, नडियाद।

३. पं० निरंजनदेव शर्मा, बजरंग पुस्तकालय, दाऊजी घाट, मथुरा।

મું૫૮

गो० श्रीहरिरायजी “रसिक” रचित ब्रजभाषात्मक

“दान-लीला”

काव्य-वाणी पर आधारित एकांकी नाटिका

શ્રી કૃષ્ણલાલ મૂળશંકર શાસ્ત્રી [illegible]

पृष्ठभूमि—प्रस्तावना
एवं
भाव-विश्लेषण और काव्य संकलन सहित

प्रणेता :-
क० गोकुलानन्द तैलंग
‘साहित्यरत्न’

ट-सिद्धान्त-कुसुमावलि....पुष्प ३३

श्रीकृष्णः

महानुभाव आचार्यवर्य
गो० श्रीहरिरायजी 'रसिक' रचित व्रजभाषात्मक

दान-लीला

[काव्य-वाणी पर आधारित एकांकी नाटिका]

पृष्ठभूमि, प्रस्तावना
एवं
भावविश्लेषण और काव्य-संकलन सहित

प्रस्तावना-लेखकः-
श्रीमद्‌वल्लभकुलावतंस पूज्यपाद
गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
शु० सं० तृतीय गृहाधिपति, काँकरोली

प्रणेताः
क. गोकुलानन्द तैलंग, 'साहित्यरत्न'

प्रकाशकः
श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद्,
बम्बई-२

प्रकाशकः-
गिरिधरलाल जगजीवनदास शाह
मानार्ह मन्त्री,
श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद्
बडी हवेली के पास, भूलेश्वर
बम्बई-२

श्रीप्रभुचरण-प्रादुर्भावोत्सव,
प्रथम संस्करण
१००० प्रति
२०१६ वि०
श्रीवल्लभाब्द ४८४
मूल्य
७५ न. पै.

मुद्रकः-
सोहनप्रकाश पगारिया
दी मेवाड़ लॉ प्रिन्टिंग प्रेस
काँकरोली (राज०)

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीमद्वृन्दावनेन्दु परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीनन्दयशोदोत्संगलालित षडैश्वर्यसम्पन्न सच्चिदानन्द भगवान् श्रीबालकृष्ण प्रभु, विभुवदन वैश्वानरावतार भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड अखण्डभूमण्डलाचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यजी महाप्रभु और परम कृपालु श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरण के महान् अनुग्रह से "श्रीपुष्टिसिद्धान्तकुसुमावलि" का तैतीसवाँ पुष्प महानुभाव आचार्यवर्य गो० श्रीहरिरायजी 'रसिक' रचित व्रजभाषात्मक "दानलीला" काव्यवाणी पर आधारित एकांकी नाटिका और पद श्रीपुष्टिभक्तिमार्गानुयायी श्रीवल्लभसिद्धान्तानुरागी वैष्णव जनता के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बई की स्थापना वि० सं० १९८९ में साम्प्रदायिक सिद्धांतप्रचार और साहित्यप्रकाशन के लिए की गई थी। इस उद्देश्य के अनुसार सिद्धान्तप्रचार के लिए पू० पा० गोस्वामीबालकों. विद्वानों और महानुभाव भगवदीयों की छोटी-मोटी सभाओं के द्वारा व्याख्यानों और प्रवचनों का आयोजन किया जाता है। साहित्यप्रकाशन के लिए यह ग्रन्थमाला विभाग प्रारम्भ कर उसके द्वारा अभी तक छोटे-मोटे तैतीस (२८ पुस्तकें और ५ पत्रिका) सुवासित पुष्प विकसित हुए हैं। उनके मधुर सौरभ से वैष्णवों के हृदय में स्वल्पांश में भी आनन्दानुभव हुआ होगा तो परिषद् की सेवा सार्थक मानी जायगी।

परिषद् के धर्माध्यक्ष श्रीमद्वल्लभकुलकौस्तुभ पूज्यपाद गो० श्री६श्रीदीक्षितजी महाराजश्री के आदेशानुसार श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी, श्रीहरिरायजी और श्रीपुरुषोत्तमजी प्रभृति आचार्यवर्य

के अप्रसिद्ध साहित्य के मुद्रण और अप्राप्य साहित्य के पुन मुद्रण के लक्ष्य से वि० सं० २०१६ में श्रीगुसाईजी विरचित १. भक्तिहंस और २. भक्ति हेतु निर्णय, वि. सं. २०१७ में श्रीमहाप्रभुजी प्रणीत पत्रावलम्बन, सस्कृत टीका और गुर्जरानुवाद और वि० सं० २०१८ में श्रीआचार्यचरणकृत श्री मधुराष्टक संस्कृत छः टीका और व्रजभाषानुवाद सहित प्रसिद्ध होने के अनन्तर वि० सं० २०१९ में प्रस्तुत 'दानलीला' साहित्य प्रकाशित कर रहे हैं।

इस प्रकाशन की प्रेरणा के लिए हम परिषद् के धर्माध्यक्ष महोदय और प्रस्तावना लिख देने के लिए हिन्दी व्रजभाषासाहित्य के मर्मज्ञ श्रीमद्वल्लभकुलावतंस तृतीयगृहमधीश पूज्यपाद गो० श्री १०८ श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोलीस्थ का सहृदय आभार मानते हैं। तदुपरांत इसके प्रणेता हिन्दी व्रजभाषासाहित्य के सुप्रसिद्ध साम्प्रदायिक विद्वान श्रीयुत पं० श्री गोकुलानन्दजी तैलंग 'साहित्य रत्न' ने यह साहित्य प्रकाशनार्थ संस्था को दिया और उसके मुद्रण व प्रुफ संशोधन की व्यवस्था की, तदर्थ उनका भी सद्भाव सह आभार माना जाता है।

अन्त में परिषद् के पास सम्प्रदाय का अप्रसिद्ध और सम्प्रति अप्राप्य पुनर्मुद्रणयोग्य बहुत सा साहित्य प्रकाशन के लिए पड़ा है, तदर्थ धर्मानुरागी वैष्णव गृहस्थों की ओर से आर्थिक सहायता मिलने पर मुद्रित कर प्रसिद्ध करने की व्यवस्था की जायगी। किमधिकम् सुज्ञेषु।

श्रीपुष्टिमार्गीय युवकपरिषद् बम्बई की ओर से

प्रबोधिनी एकादशी,
वि० सं० २०१९
गुरुवार, ता० ८-११-६२

निवेदक,
गिरिधरलाल जगजीवनदास शाह
मानद मन्त्री

पृष्ठ-भूमि

हृदय और मन-भावना और चिन्तन के कोमल स्पर्श के साथ मानव की सुकुमार वृत्तियों को जहाँ आत्माभिव्यक्ति की सहज प्रेरणा मिलती है, वहीं साहित्य-कला और दर्शन को उद्भव मिलता है। अनुभूति और चिन्तन की परिसीमाओं में बिखरी हुई ये अनगिन वृतियाँ किसी साहित्यक-कलात्मक वा दार्शनिक विधा का प्रतिरूप पाती हैं, तो वे अपने विशुद्ध-विशिष्ट रूप में न आकर संश्लिष्ट रूप में आती हैं। साहित्य-कला और दर्शन एक-दूसरे में अनुस्यूत गुथे और विरमे रहते हैं। उनकी गहराइयों में प्रवेश कर तलस्पर्शी विश्लेषण से उनका यह संश्लिष्ट रूप परखा जा सकता है। बाह्य परिधान से उसे किसी भी विशिष्ट नाम से अभिहित किया जाय, किन्तु उसके आत्मरूप में ये त्रिविध संस्कार बीज रूप से निहित रहते हैं।

प्रयोग रूप में इस तथ्य के परीक्षण के लिये गो० श्रीहरिरायजी 'रसिक' प्रणीत 'दान-लीला' काव्य उपस्थित किया जा रहा है। साहित्य की काव्य-विधा का इसे आवरण प्राप्त है, किन्तु इसकी भूमिका में एक कला है, इसका अपना दर्शन है। 'दान' रस-दान का प्रतिमान है। 'लीला'-नाट्य की रंगभूमि पर, गोपी-भाव

विभावित जीव-रूप भक्तजनों की ओर से, सच्चिदानन्द–प्रतीक परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति उन्हीं के द्वारा परम अनुग्रह-पूर्वक स्वीकार और विनिमय में देय भी। काव्य-कला-दर्शन का कितना सुन्दर सामंजस्य है, हृदय और मन की यह एकरूपता है, एकरसता है।

हिन्दी साहित्य की ऐतिह्य परिसीमाओं के सन्दर्भ में भी हम इस बीज-रूप संश्लिष्टता के संस्कार अधिगत करते हैं। पूर्वमध्ययुगीन भक्ति-काल की सगुण-धारा की कृष्ण-शाखा में इस काव्य का स्थान है। लीला-पुरुषोत्तम-परक वात्सल्य, सख्य और शृङ्गार की रस-भावनाओं की भूमिका में, अष्टछाप वा 'अष्टसखाओं' के भक्ति-काव्य में, जिस रस-मर्यादा की स्थापना की गई है, 'रसिक' शिरोमणि श्रीहरिरायजी, 'पुष्टि-मार्ग' के एक भक्ति-तत्त्व विधायक समर्थ आचार्य और महानुभाव कवि के नाते, उसी परम्परा के निरूपक और सम्वर्द्धक हैं। आपका प्रस्तुत 'दानलीला' काव्य प्रत्यक्षतः एक श्रव्य-काव्य होते हुए भी, उसमें हम दृश्य-काव्य के बीज प्रच्छन्न रूप में सन्निहित पाते हैं। वस्तुतः वह एक 'नाट्य-गीति' है, एक लीला-काव्य है, 'श्रव्य' और 'दृश्य' का संश्लिष्ट रूप है।

आज से चार सौ वर्ष पूर्व भी, व्रजभाषा-पदकाव्य के उस भर-पूर युग में, आधुनिक हिन्दी की नई 'टैकनिक' गद्यकाव्य की नव्य विधा, 'एकांकी नाटिका', अभिनेय 'गीति–नाट्य' के बीज

विद्यमान थे। इस काव्य के निकट और सूक्ष्म परिशीलन से यह विदित होता है। रूपान्तरकार का यह प्रयोग इसका प्रमाण है।

इस लीला-काव्य के वार्तालापात्मक अंशों को सम्वादों में बाँधा गया है, जहाँ–तहाँ 'टैकनिक' के अनुरूप, उसकी कडियों को जोडने के लिये कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी की गयी हैं, किन्तु अति न्यून अंश में, जिससे कि मूल कथा और भावना अक्षुण्ण रूप में बनी रहे। नाटकीय निर्देशन कुछ तो मूल काव्य में ही आगये हैं, कुछ रूपान्तरकार ने अपनी सहज कल्पना से साजा है, सँवारा है। शृंगार और साज–सज्जा एवं प्राकृतिक वातावरण का नियोजन अवश्य ही हमारी अपनी उद्भावनाएँ हैं, किन्तु व्रज की लोक-संस्कृति, उस युग की चेतना, पुष्टि–भक्ति–सम्प्रदाय की सेवा–शृङ्गार·लीला–भावना–सिद्धान्त से दूर नहीं, उन्हीं की छाया में, उन्हीं के स्निग्ध आलोक में, उन्हीं की रस–मर्यादा में। इस प्रकार काव्य के वर्ण्य विषय को विविध दृश्यों में बाँध कर एकांकी का रूप दिया गया है।

इस 'नाट्य-गीति',–काव्य के साथ ही, गीतिकार के अन्य पद-काव्य पर 'भाव-विश्लेषण' के रूप में सरल विवेचन भी जोड दिया है और अन्त में कवि के कुछ सरस पदों का संकलन। यह कवि के उन अनगिन पद-कीर्तनों में से चुना हुआ काव्य है, जिसके संयोजन से रूपाकर्षण, अनुराग, आसक्ति, आर्ति, विरह आदि की विभिन्न कोटियों को पार करते हुए, प्रेम वा शृंगार के

पूर्ण परिपाक को पहुँचा जा सकता है, जो तादात्म्य की अन्तिम सीढी है, और जिसके चिन्तन, अनुगायन से नाट्य-गीतकार के भक्त-कवि एवं पुष्टि-रसाचार्यत्व का अवबोधन होता है ! पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की कीर्तन-प्रणाली में इस लीला-काव्य को अप्रतिमस्थान प्राप्त है, ये वहाँ के नित्य और वर्षोत्सव कीर्तनों के परम अंग है, विशिष्ट रूप में 'दानलीला' दान-एकादशी: भाद्रपद शुक्ल द्वादशी: को ध्येय-गेय है, किन्तु व्रज में व्रजलीलाओं के प्रतीक पुष्टिमार्गीय 'सेवा-विधान' में तो नित्य दान, नित्य मान, नित्य रास, रस और लीला-विहार है।

'मधुनिकुंज'
कांकरोली (राज.)
'दान-एकादशी'
२०१६ वि.

क० गोकुलानन्द तैलंग,
"निकुञ्ज"

प्रस्तावना

प्रकृति-पुरुष के संयोग से आविर्भूत यह विश्व-ब्रह्माण्ड उस सच्चिदानन्दमय ब्रह्म-स्वरूप विभु का क्रीडाभाण्ड है। 'एकोऽहं बहुस्याम' की मुक्त प्रेरणा से ही इस विशाल सृष्टि के साथ जीव-जगत् को उद्भव मिला-जिसमें मानव, पशु-पक्षी, पर्वत-सरिता, वन- उपवन आदि का सहज समावेश होता है।

इस अनादि-अनन्त सृष्टि के बीच ही ब्रजभूमि एक मधुर प्राकृतिक वातावरण का केन्द्रबिन्दु है। आत्माराम, पूर्णकाम होकर भी, यहाँ वह निर्गुण परब्रह्म लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण-रूप से अपने समग्र लीला-परिकर के साथ अवतरित होता है, आत्मरमण के लिये भी और दैवी जावों के राग-रंजन के लिये भी।

श्रीकृष्ण स्वयं लीला-नायक, लीलारसिक, 'रसेश' हैं। वात्स-
य, सख्य और शृंगार की रस-त्रिपुटि उनकी लीला की प्राण-
फूर्ति है। राधा उनकी आदि-प्रेरक शक्ति, लीला-नायिका हैं।
पांगनाएँ उनकी रस-लीलाओं की चिर सहचरी हैं, प्रिया-प्रिय-
र श्यामा-श्याम के रस-मिलन की माध्यम, प्रेरक। प्रेम-लक्षणा
क्ति का अविचल भाव ही गोपी-भाव है और उसका चरमोत्कर्ष
राधा-भाव महाभाव है। ब्रज-गोष्ठ-स्थित वृन्दावन, गोवर्द्धन
मुना-पुलिन ही इस सम्पूर्ण लीला-नाट्य ...प्रकृति-पुरुष के
-मिलन, नित्य-विहार की रंगभूमि है।

'दानलीला' भी ऐसी ही रस-लीला का एक काव्य-रूपकहै। आलंकारिक प्रतीक-विधान-रूप में भी और दृश्य-काव्य के गीति नाट्य रूप में भी। प्रकृति और पुरुष, जीव और ब्रह्म, राधा ब्रजांगना और श्रीकृष्ण, भक्त और भगवान् के बीच रस-केलि का यह प्रतीक है। ब्रज की सांस्कृतिक परम्पराओं की परिधियों में पला "दान" (कर) का संयोजन वस्तुतः रस-दान का ही प्रतिमान है। मध्यकालीन ब्रजभाषात्मक भक्ति-काव्य और अष्टछाप सरीखी रस-परम्परा के स्वानुभव-सिद्ध आचार्य-भक्त-कवि महानुभावों ने 'दान' को उसी विश्व-नाट्य, रस-लीला-रूप में उपस्थापित किया है। गो० श्रीहरिरायजी प्रभुचरण 'रसिक' रचित "दानलीला" को इसी दृष्टिबिन्दु से परखा जा सकता है ..

रसेश श्रीकृष्ण वृषभानुनन्दिनी राधा सहित गोपाँगना-वृन्द से 'गो-रस-दान' माँगते हैं ......

लिएँ जाति हो श्रीफल-कंचन कमल-बसन सों ढाँकि।
दान जु लागत ताहि कौ तु देकर जाहु निसाँकि ।

'कमलवसनसम्पुटित श्रीफल-कंचन' के वाच्यार्थ में वस्तुतः लक्ष्यार्थ, 'हृदय'...अंग-अंग-उच्छलित रस-तरंग' के केन्द्रबिन्दु की रसनिधि उससे निर्झरित भाव-नवनीत-गोरस, समाहित है, यही गो-रसदान-गो, इन्द्रिय-रसदान है। यहाँ श्यामसुन्दर गोपांगनाओं से जहाँ रस-याचन कर रहे हैं, वहाँ उन्हें अयाचित, अनुग्रहपूर्वक रसदान भी। यह रस-पोषण, रस-परिपाक ही 'पुष्टि भक्ति' है ....अनुग्रह वा पुष्टिमार्ग है और रसराज शृङ्गार की परमावधि।

किन्तु 'चली जाति गोरस मदमाती'...से ध्वनित है कि अभी गोपी में मद, अहं की स्थिति विद्यमान है। द्वित्व वा अनेकत्व को एकत्व में परिणत करने के लिये,, प्रकृति-पुरुष, जीव-ब्रह्म, गोपी-कृष्ण वा भक्त-भगवान् के बीच अहन्ता-ममता का व्यवधान पूर्ण रस-दान में बाधक है। इसी अहं की प्रेरणा से वह अपने प्रेष्ठ से अनन्त-अनन्त काल से वियुक्त, अपने जीवन के लक्ष्य से विकेन्द्रित, वंचित है। 'बहुत दिनाँ तुम बचि गईं' में 'द्वित्व, की यही स्थिति परिलक्षित की गयी है। किन्तु...

आजु हौं लेहुँगौ आपुनौ दिन दिन कौ दान सँभारि...

में प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा, अनुग्रह के लिये आकुलता-पूर्वक तत्पर हैं। इसीलिये तो कहते हैं,, 'घूँघट पट मुख खोल'...माया-मोह के आवरण को दूर कर। किन्तु संकोच की झीनी यवनिका नहीं उठ पाती तो आप स्वयं ही ...

हरखि हिए कर करखि कै मुख तै नील निचोल।
पूरन प्रगट्यौ देखिए मनु चंद घटा की ओल ॥

एक रूप, एक रस हो गये। द्वित्व की स्थिति में ही 'प्रीति हिए में राखिए सो प्रगट किएँ रस जाइ'...का आत्म-गोपन था। अब तो राधा-माधव में तादात्म्य है ...

मन मेरौ तारनि बसै अरु अंजन की रेख।
चोखी प्रीति हिए बसै सो यातै साँवल भेख ॥

यही शुद्धाद्वैत,, पुष्टि-मार्ग वा रस-सम्प्रदाय का उज्ज्वलतम सिद्धान्त है – यही आत्मनिवेदन वा ब्रह्मसम्बन्ध है, प्रपत्ति का प्रोज्ज्वल रूप है।

( )

यह तद्रूपता, उभयपक्षीय तन्मयता इन रस-लीला-नायक-नायिकाओं में ही नहीं,, इस समग्र लीला-परिकर में भी है।

भक्त और भगवान् के बीच माध्यम गुरु की भाँति सखी ललिता के व्यंगात्मक उद्बोधन वा लोकापवाद की ऊहापोह के स्पष्टीकरण में..........

तुमहिं हमारी कुमुदिनी हम कमलबदन के भौंर ।

* * * *

ब्रज वृंदाबन गिरि नदी पसु पंछी सब संग ।
इनि तैं कहा दुराव है, प्यारी राधा मेरौ अंग ।

सब कुछ चिन्मय है, श्रीकृष्ण-रूप और रस-स्वरूप। रस-पोषण के लिये ही विरह है, गोपन है, मान और दान है औरइसी-लिये ब्रज में नित्यलीला, नित्यविहार है ।

यही इस लीलाभिनय का निगूढ रहस्य है और इसी को काव्य सरस वाणी में··· देव वाणी में ही नहीं ···ब्रज की लोक वाणी में भी, तल्लीलालीन महानुभावों ने बाँधा है । इसी को 'रास' कहिये, मधुर-मिलन वा लीलाभिनय। सृष्टि की मूल शक्तियों का सामान्य लोक-जीवन के स्तर पर आविर्भूत होना एक उच्च-कोटि का आध्यात्मिक वा दार्शनिक, साथ ही जन-व्यवहारी आदर्शों का साम्यभाव है। यह लोक और वेद का समन्वय है, सरल जीवन-दर्शन है, और है एक तात्त्विक रूपक।

पैलेस,
कांकरोळी (राज०)
प्रबोधिनी, २०१६ वि०

गो० श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज
शु० सं० तृतीय गृहाधिपति,
काँकरोली

दानलीला

ब्रजभाषा-गीति-नाट्य
और
हिन्दी एकांकी

गो० श्रीहरिरायजी "रसिकजू" कृत....

दानलीला

तुम नंद महर के लाल, मोहन जानि दै,
रानी जसुमति प्रान अधार, मोहन जानि दै,

(श्री) गोवर्द्धन की सिखर तें, मोहन दीनी टेर,
अति तरंग सों कहत हैं, सब ग्वालिनि राखौ घेर,
नागरि दान दै

ग्वालिन रोकी ना रुकैं, ग्वाल रहे पचिहारि,
अहो गिरिधारी दौरियो, सो कह्यो न मानति ग्वारि,

× × ×

चली जाति गो-रस मदमाती, मानों सुनति नहिं कान,
दौरि आए मनभाँवते, सो रोकी अंचल तान,

एक भुजा कंकन गह्यो, एक भुजा सों चीर,
दान लैन ठाढे भए, सो गहबर कुंज कुटीर,

बहुत दिनाँ तुम बचि गईं. हो दान हमारौ मारि,
आजु हौं लेहुँगौ आपुनौ, दिन दिन कौ दान सँभारि,

रस निधान नवनागरी, निरखि बचन मृदु बोल,
क्यों मुरि ठाढी होति है, सो घूँघट पट मुख खोल,

हरखि हियें कर करखि कैं, मुख तें नील निचोल,
पूरन प्रगट्यौ देखिए, मनु चंद घटा की ओल,

ललित बचन समुदित भए, नेति नेति यह बैन,
उर आनँद अति ही बढ्यौ, सो सुफल भए मिलि नैन.

इहि मारग हम नित गईं, कबहुँ सुन्यौ नहिं कान.
आज नई यह होति है, सो माँगत गोरस दान.
मोहन जानि दै.

तुम नवीन नवनागरी, नूतन भूषन अंग.
नयौ दान हम माँगनौ, सो नयौ बन्यौ यह रंग.

चंचल नयन निहारिए, अति चंचल मृदु बैन.
कर नहिं चंचल कीजिए, तजि अंचल चंचल नैन.

सुंदरता सब अंग की, बसननि राखी गोइ.
निरखि निरखि छबि लाडिली, मेरौ मन आकर्षित होइ.

लै लकुटी ठाढे भए, जानि साँकरी खोरि.
मुसकि ठगौरी लाइकैं, मोसों सकत लई रति जोरि,

नैंकु दूरि ठाढे रहौ, कछू औरु सकुचाइ.
कहा कियौ मनभाँवते, मेरे अंचल पीक लगाइ.

कहा भयौं अंचल लगी, पीक हमारी जाइ.
याके बदले ग्वालिनी, मेरे नयननि पीक लगाइ.

सूधे बचननि माँगिए, लालन गोरस दान.
भौंह न भेद जनाइ कै, सो कहत आन की आन.

जैसी कछु हम कहत हैं, ऐसी तुम कहि लेहु.
मन मानै सो कीजिए, पर दान हमारौ देहु.

कहा भरे हम जाति हैं, दान जो माँगत लाल,
भई अबार घर जानि दै, सो छाँडौ अटपटी चाल,

लिये जाति हो श्रीफल कंचन, कमल वसन सों ढाँकि,
दान जु लागत ताहि कौ, तु देकर जाहु निसाँकि,

इतनी बिनती मानिए, माँगति ओली ओडि,
गोरस कौ रस चाखिए. सो लालन अंचल छोडि,

सँग की सखी सब फिरि गईं, सुनिहै कीरति माइ,
प्रीति हिए में राखिए, सो प्रगट किएँ रस जाइ,

काल्ह बहुरि हम आइहैं, गोरस लै सब ग्वा'र,
नीकी भाँति चखाइहों, मेरे जीवन हो बलिहारि,

सुनि राधे नवनागरी, हम न करैं विस्वास,
कर कौ अमृत छाँडि कै, को करै काल्हि की आस,

तेरौ गोरस चाखिबे, मेरौ मन ललचाइ,
पूरन ससि कर पाइकें, सो चकोर न धीर धराइ,

× × × ×

मोहन कंचन कलसिका, लीनीं सीस उतारि
स्रम कन बदन निहारि कै, सो ग्वालिनि अति सुकुमारि,

नव बिंजना गहि लालजू, श्रीकर देत दुराइँ,
स्रमित भई चलौ कुंज में नैकु पलोटूँ पाइँ,

जानत हौ यह कौन है, ऐसी ढीठ्यों देत,
श्रीवृषभानुकुमारि है, सखी तोहि बीच को लेत.

गोरे श्रीनँदराइजू. गोरी जसुमति माइ,
तुम या ही तें साँवरे. मो ऐसे लच्छन पाइ.

मन मेरौ तारनि बसै. अरु अंजन की रेख.
चोखी प्रीति हिएँ बसै. सो या तें साँवल भेख.

आपु चाल सों चालिए. यहै बडेन की रीति.
ऐसी कबहुं न कीजिए. जो हँसें लोग बिपरीति.

ठाले ठूले फिरत हो. और कछू नहिं काम.
घाट बाट रोकत फिरौ. सो आनि न मानत स्याम.

येही हमारौ राज है. ब्रजमण्डल सब ठौर.
तुमहिं हमारी कुमुदिनी. हम कमल-बदन के भौंर.

ऐसे में कोउ आइहै, देखै अद्भुत रीति,
आज सबै नँदलालजू, सो प्रगट होइगी प्रीति,

ब्रज बृंदावन गिरि नदी, पसु पंछी सब संग,
इनि सों कहा दुराव है, प्यारी राधा मेरौ अंग,

अंस भुजा धरि लै चले, प्यारी चरन निहोर,
निरखत लीला "रसिकजू" जहाँ दान मान की ठौर,

जयति राधिका रमण वर चरण परिचरणरति,
बल्लभाधीश सुत विठ्ठलेशे ।

दास जन लौकिकालौकिके सर्वथा नैव चिन्तोदयति हृदयदेशे ॥

स्थापयतिमानसं तत्कृते ळालसं सहजसुषमारुचिर रुपवेशे ।

भालगत तिळकमुद्रादिसोभाजाहत
मस्तकावद्ध सितकृष्णकेशे ॥

सहजहासादियुत वदनपंकज सरस,
रसवचनरचनापराजित सुरेशे ।

अखिळसाधनरहितदोष शत सहित मति,
दास 'हरिदास' गति निज बलेशे ॥

*

परिचय

सच्चिदानन्द. प्रतीक परब्रह्म. स्वरूप श्रीकृष्ण का स्वीय क्रीडा. भाण्ड ब्रह्माण्ड पर, ब्रज भूमि के मधुर नैसर्गिक वातावरण के मध्य भक्त. जन. मन. रंजनाय नर. रूप में अवतरण.

रसेश श्रीकृष्ण का यशोदोत्संग. लालित नन्दनन्दन, गोप. गोकुल. नन्दन एवं गोपीजन. वल्लभ. रूप से नन्दालय में वात्सल्य, सख्य और श्रृङ्गार का त्रिविध प्रतीकात्मक आविर्भाव.. ब्रज. गोष्ठ. स्थित वृन्दावन, गोवर्द्धन. यमुना. पुलिन. तट पर रस. त्रिपुटि का प्रस्तार...कौतुक. क्रीडाओं, मधुर लीलारस. केलियों का संयोजन.

श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा, देवरूपा गोपाङ्गनाओं....गोपी. भाव. विभावित जीव. रूप भक्त जनों के चिर. वियोग. विव्हल हृदय से निर्झरित नवनीत. गोरस....मधुर रस. भावनाओं को परम अनुग्रह. पूर्वक परब्रह्म. रूपानुरूप आत्मीयता से अंगीकार, विनिमय में रस. दान,

बस, अन्तरङ्ग, निगूढ रहस्य का, तल्लीलालीन महानुभावों की काव्य. सरस ब्रज. वाणी में, प्रस्तुत 'दानलीला'. रूप में उद्घाटन,

× × × × ×

पात्र

पुरुष: — श्रीकृष्ण.

सुबल, तोककृष्ण, श्रीदामा, मनसुखा आदि सखा, ग्वाल. बाल.

स्त्री:— राधा

ललिता, विशाखा आदि सखियाँ....ब्रजाङ्गनाएँ.

स्थान...

ब्रजमण्डल में गिरि. गोवर्द्धन की उच्च श्रेणी तथा उसकी मनोरम. उपत्यका.
समीप ही मानसी. गङ्गा. तट की मोहक पार्श्व. भूमि दान. घाटी की मंजुल स्थली.

समय...

पूर्वाह्न. काल.
नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की गोचारण. वेला.

* * *

शृङ्गार.

श्रीकृष्ण....

ललित. त्रिभङ्ग, ग्वारिया. वेष में मेघ. श्याम नटवर. वपु.... लटपटी सुरङ्ग पाग. ऊपर मस्तक पर शुभ्र चन्द्रिका. विलसित मौलिश्री. शोभित मोर. मुकुट....भाल पर गोरोचन का रम्य तिलक....मुख में पान की लालिमा....गोधूलि. धूसरित बिथुरी कुन्तल राशि, कुछ मुक्त अलकें ललित कपोलों पर छायी हुई.... उत्फुल्ल मल्लिका के गुच्छों से कर्ण. युगल शोभायमान....गुञ्जा. मणियों, बैजयन्ती माला एवं मालती. पुष्पों की मालाओं से झलमलित विशाल वक्षः स्थल....पहुँचियों में बन. कुसुमों के वलय....कटि. प्रदेश में मल्ल. कच्छ और रेशमी कनक. कदिश. वर्ण के अनुरूप आकण्ठ पीताम्बर लिपटा हुआ....उसके नीचे क्षुद्र. घण्टिका शोभायमान....चरणों में नूपुरों की रुनझुन ... बाम श्रीहस्त एवं अरुण अधरों पर आधारित सुन्दर वेणु.... रन्ध्रों पर अँगुलियों के सञ्चालन पूर्वक मन्द. मधुर वादन....बाम भाग में कटि और भूमि से टिकी हुई वेत्र...ब्रज. शोभा का दर्शन करते हुए, झुके हुए रस स्निग्ध नेत्र.

गो. समूह....

गिरि. अधित्यका तथा उपत्यका में चारों ओर, वेणु. रस में तन्मय. भाव से, मुख में तृण दबाये हुए जहाँ तहाँ बिखरी काली, काजर, धौरी, धूमर गौओं का समूह.

ग्वाल. बाल....

तलहटी में विविध क्रीडाओं में संलग्न गोप. बालकों, सखाओं का मण्डल....मस्तक पर विविध रंगों की अस्त. व्यस्त पाग... शिर, कर्ण, बाहु आदि में बन. सुमनों के गुच्छों की शोभा.... कच्छ एवं ऊर्ध्व वस्त्र....हाथ में वृक्षों की पतली डालियाँ, पुष्प. गुच्छक वा हलकी छडियाँ....भाल पर ब्रज. रज, चन्दन, कुंकुम आदि के कौतुकमय आलेप...

राधिका, सखियाँ...

मस्तक पर छोटी. बडी दधि की मटुकियाँ....भाव. भीनी रस. पगी दशा में मन्द. मन्द पद. संचालन... सुरँग चूनरी तथा लहँगा एवं वेणी, कर्णफूल, अञ्जन, चन्दन को खौर, नक. बेसर, कण्ठ. हार, पहुँची, मेखला, नूपुर आदि विविध शृङ्गार. सज्जा से विलसित गोरी ग्वालिनियाँ, कामिनियों का बढता हुआ बल.... वेणु. ध्वनि में अनुरक्त चित्त और श्याम. सुन्दर की भाव. मुद्रा. माधुरी में उलझे हुए नेत्र.

* * *

दृश्य : प्रथम.

[गिरिराज की सुहावनी शैल. श्रेणियों की मालाकार योजना....घुटती. सिमिटती श्याम घटाओं से घिरा प्रशस्त नीलाम्बर....उमडते भाव. सीकरों सी नन्हीं. नन्हीं फुहियों द्वारा गोवर्द्धन का पुण्य अभिषेक....धूमिल सप्तरङ्गी सुर. धनु से विलसित नील गगन- तले ब्रज की नैसर्गिक शोभा का विस्तार.]

[गोवर्द्धन के किसी उच्च शिखर पर नटवर. वपु श्रीकृष्ण का, गोचारण करते हुए, मधुर वेणु. वादन...उसकी माधुरी से आकृष्ट होकर ग्वालिनी राधा, अपने. अपने सिर पर दधि की मथनियाँ रखे हुए सहेलियों के साथ, दान. घाटी से कुछ दूर भाव. मुद्रा में दिखाई देती हुई....दान लेने के मिस से उन्हें ऊपर से ही रुक जाने का सङ्केत....गाती हुई, अनमनी सी अलग दिशा को उनकी प्रगति...गिरि. तलहटी में खेलते हुए सखा. गण भी दूर से ही इस कौतुक को देखते हुए आश्चर्यान्वित.]

राधा तथा ब्रजाङ्गनाएँ....

गीत

तुम नंद महर के लाल,
मोहन, जानि दै.
रानी जसुमति प्रान अधार,
मोहन, जानि दै.

[राधा को नहीं रुकते हुए देख कर, उन्मद रसावेश में श्यामसुन्दर अपने सखाओं को पुकारते हैं.]

श्रीकृष्ण....अरे, सुबल ! तोक ! श्रीदामा ! इन ग्वालिनियों को चारों ओर से घेर लो....आगे बढने न पावें. ये नागरियाँ बिना दान दिये, एक पग भी यहाँ से बढ नहीं सकतीं.

[सखाओं का दल चारों ओर से सिमिट कर, 'ठहरो, ठहरो' के कोलाहल के साथ, अपने. अपने वेत्रों को ग्वालिनियों के आगे अडा कर, उनका मार्ग रोक लेता है. सखा उनके साथ झकझोरी करते हैं. पर उन्हें ढकेलती हुई, 'मोहन, जानि दै' की गीति- धारा के साथ, वे आगे बढ जाती हैं. सखा श्रीकृष्ण को पुकारते हैं.]

ग्वाल. बाल...अहो गिरिधारी ! दौड़ो. ये हमारा कहना नहीं मानतीं. गोरस की मदमाती ये ग्वालिनियाँ अनसुनी सी करके चली जा रही हैं.

[श्रीकृष्ण शिखर से उतर कर, वेणु. वेत्र लिये, दौड़कर 'रोको, रोको' कहते हुए उपत्यका में आ जाते हैं. कुछ ग्वाल ग्वालिनियों को रोकते हुए, उनके साथ चले जाते हैं, कुछ श्रीकृष्ण के समीप रह जाते हैं.]

पटाक्षेप

◆

दृश्य : द्वितीय

[दानघाटी की मनोरम स्थली में गहवर कुञ्ज-कुटीर का द्वार समीप में निर्मल मानसरोवर लहराता हुआ....घाटी के सुदूर छोर पर, बरसाना की टेकरियों पर बसे वृषभानुकुमारी के महलों की अस्पष्ट छाया .. कुछ दूरी पर, गिरि-गोवर्द्धन की हरित-भरित उपत्यका और लता. पल्लव. तृण एवं शैल. फलों से झुके हुए छोटे. छोटे वृक्ष . वत्स और वानर शिशुओं की किलकिलाहट... तृण चरती हुई यत्र. तत्र बिखरी गौएँ ...जहाँ - तहाँ नृत्य - निरत मयूर. मयूरियों की क्रीडा...वन्य. पक्षियों की उन्मुक्त उडान . अस्फुट कोलाहल]

[एक ओर से "मोहन, जानि दै" की मधुर ध्वनि के साथ गोपाङ्गनाओं का प्रवेश . उन्हें रोकने का प्रयास करते हुए, कुछ गोप- बालक...दूसरी ओर से वाम पार्श्व में में वेत्र और दक्षिण हस्त में वेणु लिये, कुछ सखाओं के साथ श्रीकृष्ण की उपस्थिति... सखाओं का उल्ला-समय कुतूहल से इधर. उधर बिखर जाना ..साथ की सहेलियों का भाव. तन्मयता में कुञ्ज - कुटीर से दूर बरसाना की दिशा में प्रयाण...बंशी को पीताम्बर की फेंट में कस कर, श्रीकृष्ण द्वारा राधिका का बाम हस्त से अञ्चल और दक्षिण हस्त से कङ्कण. ग्रहण एवं दान माँगना।

श्रीकृष्ण . हैं, बहुत दिनों से, तुम हमें बिना दान दिये, आँख बचा कर, भागती रही हो. आज मैं तुम से पिछले सारे दिनों की कसर निकाल लूँगा....अपना सारा चढा हुआ दान, लेखा. जोखा करके, ले लूँगा.

राधा .. ..

[वाणी से मौन, अञ्चल. पट से चञ्चलता पूर्वक, घूँघटकी ओट मुख को ढ़ाँक कर, श्यामसुन्दर नन्दनन्दन की ओर से मुख मोड़ कर खडी हो जाती है.]

श्रीकृष्ण....अरी, रसनिधान ! नवनागरि ! इस ओर देख. मीठे वचनों से बोल तो सही. मुड कर क्यों खड़ी हो गयी है ?

[इतने पर भी उसे मुग्ध. मौन सी खड़ी हुई देख कर, रस. विह्वल श्रीकृष्ण उल्लसित हो, हाथों के द्वारा नील निचोल को खींच कर राधिका का मुख आवरण. मुक्त कर देते हैं...मानों निर्मल नीलिम अम्बर. घटाओं के बीच से उदित पूर्णोज्ज्वल चन्द्र की भाँति उसके मुख को कान्ति बिखर चली हो. इसी के साथ रसिक युगल के मद पूरित नेत्रों का मिलन होता है. राधा के नेत्र मानों सफल हो जाते हैं. उभय हृदयों से उमडती हुई आनन्द. धारा ने वर्णानातीत रूप में उसकी ललित वाणी को भी रस. सिंचन पूर्वक चेतना दी.]

राधा....इस मार्ग से हम नित्य ही जाती हैं, किन्तु कभी भी हमने कान से इस दान का नाम नहीं सुना. आज से यह कौनसी नई रीति चलाई है, जो 'गो. रस' का 'दान' माँग रहे हो, मोहन, हमें जाने दो,

श्रीकृष्ण.... [रूप. प्यासे, प्रणय. पराग. राग. रञ्जित लोल लोचनों से, नव. नव अलङ्कार. सुषमा. सज्जित समग्र अङ्ग की नव्य माधुरी पर झुक. झूमते हुए, भाव. शिथिल वाणी और अञ्चल एव कङ्कण. स्थित दोनों रस. स्निग्ध हाथों की उन्मद चञ्चल चेष्टाओं के साथ राधा से बरजोरी करते हुए] तुम नव वय: प्राप्त, नव भूषण. सज्जित. कलेवरा नवनागरी हो. इसीलिये हम भी यह नये ढङ्ग का दान माँग रहे. इससे इस स्थल, वातावरण में एक नवीन, विलक्षण ही रस. रङ्ग विलसित हो रहा है. ।

राधा .. [कुछ रस. विवश, सहमी सी, किन्तु मधुर आक्रोश भरी दृष्टि से विचलित, व्यथित मुद्रा में] अति चञ्चल मदमाते नेत्रों और मधुर बचनों के साथ बोलना छोड़ो ..इस पर भी हाथ चञ्चल कर रहे हो. मेरे अञ्चल को छोड़ दो , चञ्चल. नयन !

[कुछ सिमिटने, कुछ पीछे हटने का प्रयास करती है ।]

श्रीकृष्ण .. [आगे बढ़ कर, पारदर्शी मादक दृष्टि से सम्पूर्ण अङ्गों के सुकुमार उभार और ढार पर आँखें गडाते हुए] अङ्ग-अङ्ग का सौन्दर्य बसनों के परिधान में तुमने छिपा रखा है, लाडिली ! इनकी कनक-कमनीयता देख कर मेरा मन आकर्षित हो रहा है, मैं क्या करूँ ?

[रस-चातुरी से, भावावेश में अञ्चल के छोर को मुख में लेकर सहज भाव से, उस पर पान की पीक लगा देते हैं ।]

राधा....[अञ्चल को चञ्चलता से समेटती हुई, लज्जित सी] मन. भावन ! अञ्चल में पीक लगा कर, ये तुमने क्या किया ? साँकरी खोर समझ कर हाथ में लकुटी लिये मेरे मार्ग को रोक रहे हो ? मन्द. मधुर मुस्कान से मुझ पर कुछ ऐसी ठगौरी डालना चाहते हो. जैसे अनायास ही प्रणय की डोरी में मुझे बाँध लोगे ? थोड़ी दूर खड़े रहो, मनमोहन ! कुछ तो लोक. लाज से सकुचाओ.
[थोड़ी चञ्चल व्यथा का भाव बताती है.]

श्रीकृष्ण .. ग्वालिनी, क्या हुआ, जो हमारी पीक तुम्हारे अञ्चल में जाकर लग गयी ? इसके बदले में, तुम चाहो तो, मेरी आँखों में पीक लगा दो. [मद.भरी, सरस भ्रू. भङ्गिमा और भाव.विलसित पलकों को झुका कर सहज ही, राधा की आँखों में आँखें डाल देते हैं]

राधा .. [रस.तन्द्रिल सी] लालन ! गो.रस का दान सरल और निश्छल वाणी में माँगो. भ्रू. भङ्गिमाओं के रूपक.भेद बता कर तो तुम कुछ और ही बात कह रहे हो.

श्रीकृष्ण .. जैसी, जो कुछ हम कह रहे हैं, रूपसि, तुम भी वैसी ही कुछ कह लो, तुम्हारे मन में जो भावे, सो कर लो, पर हमारा दान हमें दे जाओ.

राधा...अपनी मटुकियों में हम कौनसा द्रव्य भरे लिये जा रही हैं, लालन, जिसका तुम दान माँग रहे हो ! हमें देर हो रही है, घर जाने दो .. यह अटपटी चाल छोड़ दो.
[अञ्चल को छुड़ाने की चेष्टा करती है, किन्तु श्रीकृष्ण उसे और तान कर, छल कर पकड़ लेते हैं]

श्रीकृष्ण....[वक्षः स्थल पर मद. भरे अपलक नयनों से लक्ष्य करते हुए। कमल. कोमल परिधान में लिपटे हुए, अञ्चल के पीछे, कञ्चन. कलित रस. भरे श्रीफलों को ढाँक कर जो तुम लिये जा रही हो, उसी पर 'दान' लगता है, जिसे देकर निर्भय चली जाओ,

राधा... [भाव. विभोर सी] इतनी विनय मेरी मान लो, लालन ! मैं अञ्चल पसार कर भीख माँगती हूँ, कि तुम गो. रस का का स्वाद चाहे जितना ले लो, मेरा अञ्चल छोड दो. [कुछ उन्मन, व्याकुल, अधीर सी मुद्रा में दानघाटी के सुदूर छोर की ओर दृष्टि लगाती हुई] देखो, संग की सारी सहेली बरसाने की ओर मुड़ी जा रही हैं. मेरी कीरति-माँ यह सब सुनेगी तो क्या कहेगी ? प्रीति तो हृदय में ही छिपा कर रखनी चाहिए— प्रकट होने पर तो उसका स्वारस्य मारा जाता है, मेरे जीवन-प्राण ? हम सब ग्वालिनियाँ कल फिर इसी डगर से गो-रस लेकर आवेंगी, तब मैं भलीभाँति अपना नवनीत चखाऊँगी, मुझे छोड़ो, मैं तुम पर बलिहारी जाती हूँ.

श्रीकृष्ण नवनागरि राधे ! सुनो, हम इस बात पर तो विश्वास नहीं करते, हाथ में आये हुए अमृत को छोड़ कर कल की आशा कौन करे; तुम्हारा "गोरस" चाखने के लिए मेरा मन ललचा रहा है, देखो. पूर्णचन्द्र को हाथ में पाकर चकोर धैर्य कैसे रखे ?

[अञ्चल को ताने हुए राधा आगे बढ़ती जा रही है, नन्दनन्दन उसके अति निकट, पीछे-पीछे मनुहार करते चले जा रहे हैं]

(नैपथ्य में)

[नागरि दान दै... मोहन जानि दै... की मधुर गीत-लहरी क्रमशः आ रही है]

—पटाक्षेप—

—

दृश्य : तृतीय

[कुञ्ज-कुटीर का अन्तरङ्ग अञ्चल— बेलि-बल्लरियों के निभृत अन्तराल में एक सघन, धूमिल प्रकाश. गव्हर लता-वितान–शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर को हलकी हिलौरों के साथ निस्पन्दित तरल प्रवाह—गम्भीर, स्निग्ध, शान्त वातावरण—शुभ्र सरोवरों में निर्मल रस-सम्पुटित कुमुदिनियों और पीत परिमल–प्रसर उत्फुल्ल कमलों का विमल विकास—रस-मत्त मधुप-किशोरों का गुन-गुन गुञ्जन—वन्यद्रुमों पर विविध विहङ्गों के कल-रव-गीत—नग-निर्झरों की अस्फुट ध्वनि से गुञ्जायमान कुञ्ज-निकुञ्ज—दूर्वाङ्किरों से आच्छादित हरित-भरित भूमि—जहाँ-तहाँ जलाशयों में समृद्ध शैवालिका की शस्य-श्यामल सुषमा।]

[भावोन्मत्त दशा में रसिकिनी राधा और रसपति श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं। अति सुकुमारी ग्वालिनी राधिका एक माधवी लता के सहारे खड़ी हुई है, उसके भाल पर झलमल मोती से श्रम-कण बिन्दु झलक आये हैं। उसे थकी सी, ठगी सी, भाव-विजडित सी देख कर मनमोहन उसके अञ्चल को छोड़ देते हैं, उसके सिर की गोरस. भरी कञ्चन-कलसिका उतार कर, नन्दनन्दन स्वयं अपने श्रीहस्त से अपने पीताम्बर के छोर का एक नवीन व्यजन रच कर श्रम-निवारण के लिए, उसके सिर पर डुला रहे हैं, राधा उनकी आजानु भुज-लताओं के सहारे, अपना मस्तक उनके अङ्क में रख कर भूमि की हरित दूर्वा पर बैठ जाती है।]

श्रीकृष्ण...प्रिये, राधे ! तुम अत्यन्त थक गई हो, चलो कुञ्ज-कुटी की ओर, और कमल-कोमल शय्या पर विश्राम करो, मैं तुम्हारे चरणों को पलोट दूँ।
[एकटक उसके श्रान्त मधुर मुख पर निखरी माधुरी को निहारते रह जाते हैं]

[ललिता का प्रवेश]

ललिता...जानते हो, मोहन! यह कौन हैं ? जिसके साथ तुम ऐसी ढीठता कर रहे हो ?

श्रीकृष्ण....हाँ, जानता हूँ, अच्छी तरह [राधा के मुख की ओर देख कर एक क्षण मुस्कुराते हुए] यह 'श्रीवृषभानुकुमारी' राधा हैं. [किन्तु दूसरे ही क्षण कुछ उद्विग्न भाव में] पर, अरी ! सखि, तुझे बीच में किसने बुलाया ? यह बीच. बचाव करने ?

ललिता...[व्यङ्ग के साथ] तुम्हारे ऐसे लक्षण हैं, इसीलिये तुम साँवल. रङ्ग हुए. नहीं तो, जहाँ बाबा श्रीनन्दरायजी गौर. वर्ण हैं, माँ यशोदा भी गोरी हैं, वहाँ उसके विपरीत तुम में कालिमा .शरीर की ही नहीं, मन की भी...कहाँ से आइ ?

श्रीकृष्ण....अरी, बावरी ! तू क्या जाने, हमारे श्यामल वपु का भेद. ? देख, इसी प्राणप्यारी राधिका की पुतली में .. उसके श्याम अञ्जन की रेखा में मेरा मन बसा हुआ है. मैं इसीलिये 'श्यामसुन्दर' हूँ. फिर मेरे अन्त-

स्तल में तो इसी की सच्ची प्रीति की श्याम घटाएँ घिरी हुई हैं. शृंगार. रस की रति. मति ही श्यामल है. भला, मैं श्यामल भेष क्यों न होऊँ ?

ललिता...श्यामसुन्दर, देखो, बड़ों की परम्परा यही है. कि हम अपनी चाल से, रीति-मर्यादा से चलें. ऐसी बातें कभी नहीं करनी चाहिये, जिससे लोग उल्टे हमी पर हँसें. ठाले. टूले जो फिरते हो, कुछ काम. धाम नहीं. इसीलिये हम अबला गोप. ललनाओं को घाट-बाट रोकते. टोकते फिरते हो।

श्रीकृष्ण ..अरी, तू ये क्या कहती है ? यह ब्रजमण्डल तो हमारा राज्य है। सर्वत्र हमारी ही प्रभुता है। तुम सब ब्रज-सीमन्तिनी कुमुदिनी की भाँति हमारे ही सुधास्निग्ध कर-स्पर्श से विकसित, प्रमुदित होने वाली हमारी प्रिया हो ..हम "ब्रजचन्द्र" हैं, इतना ही नहीं, तुम सब कमलमुखी हो, कमलिनी हो, हम तुम्हारी रूप–माधुरी के लोलुप मधुप हैं, अपने ही रंग में, अपने ही रस में उन्मत्त।

ललिता...नन्दलाल ! तुम्हारी ऐसी अटपटी रस–लीला को आकर कोई देख लेगा तो आज तुम्हारी सारी गुप्त प्रीति-रीति प्रकट हो जायगी।

श्रीकृष्ण...ललिते, ब्रज-बृन्दावन, उसमें गिरि-सरिता, पशु-पक्षी, सभी सर्वदा मेरे साथ हैं...मेरा ही रूप हैं, उनसे क्या छिपाना है ? फिर प्यारी राधिका तो मुझसे अभिन्न है, मेरा ही अंग है।

[भावावेग में श्यामा-श्याम उठ कर खड़े हो जाते हैं। ललिता भी उनके पीछे-पीछे उल्लसित हृदय के साथ चल पड़ती है। श्यामा-राधिका के कन्धों पर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी भुजाएँ रख लेते हैं। उसके कण्ठ के दोनों ओर अपनी बाम और दक्षिण भुजाओं को मालाकर बाँध कर, उनके सहारे प्रिया की ओर झुके, वेणु-वादन करते हुए, "ललित गति विलास, वल्गु हास" के साथ कुञ्ज-कुटीर की ओर जारहे हैं। रस-मुग्ध नयनों को अपने चरणों में लगाये हुए, श्यामसुन्दर के वाम भाग में शोभित राधिका, प्रणयासक्त दशा में, रसिक-जनों को मन्त्र-मुग्ध, तल्लीलालीन करती हुई "दान--मान" अभिसार-स्थल को जारही है।]

॥ पटाक्षेप ॥

नमो वल्लभाधीश - पद - कमळ युगलम् ।
सदा वसतु मम विविध-रस-भाव-वलितम् ॥
मेन्य महिमा भास वासनावासितं ।
मा भवतु जातु निजभावचळितम् ॥
भजतु भजनीय मतिशयित रुचि रुचिरं चरण युगलम् ।
सकल-गुण-सुळळितम् ॥

वदति "हरिदास" इति मा भवतु मुक्तिराव ।
भवतु ममदेव शतजन्म फलितम् !!

भाव - विश्लेषण

भक्ति और काव्य : दोनों एक रस-रूप होकर 'रसिक' जनों के अन्तस्तल को, उनकी रग-रग को उनकी समग्र बहिः और अन्तश्चेतन-वृत्ति को सन्दीपित, सम्मोहित करते हैं। दोनों आत्मधर्मी हैं। दोनों परस्पर एक दूसरे को अनुप्राणित करते हैं। अन्तः की बीज-रूप रागात्मिका वृत्ति किसी प्रेष्ठ में रम जाने पर भक्ति का रूप पाती है और कला एवं कल्पना का उपजीवन, आधार लेकर वही काव्य-वाणी के रूप में भावावेग के साथ, भाव-जगत् में प्रस्फुटित होती है। फिर वही कण्ठ-माधुरी का परिधान पाकर संगीत के नाम से अभिहित होती है। भगवल्लीला-रस के गायक, गीति-काव्य के कलित कलेवर में भगवच्चरित्र के विधायक रसिक महानुभावों के व्यक्तित्व से भक्ति और काव्य की आत्मा इसी रूप में सम्पुटित होती है। दोनों के ही मूल में रस-प्राणता है। उनकी लीला-रसिकता भक्ति को और भक्ति काव्य को प्राण-स्फूर्ति देती हैं। इस प्रकार दोनों एक रूप हो जाते हैं, भक्त को कवि और कवि को भक्त बन जाना सहज सम्भाव्य हो जाता है। श्री-मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।।

गो॰ श्री-हरिरायजी सरीखे रस के धनी, पुष्टि-पथ के आचार्य इसी कोटि के 'रसिक' महानुभाव हैं, जो हरि-लीला-काव्य को सहज रूप में जगत के समक्ष आविर्भूत कर रहे हैं, यह उनका प्रयास-साध्य काव्य नहीं, अपितु उनके हृदय में सहज रूप से

अवस्थित लीला–रस का सहज स्फुरण है। नन्दनन्दन श्यामसुन्दर की अगाध रूप-माधुरी से जिनका हृदय रँगा पगा है, उनके अमोघ रूपाकर्षण की रज्जु में जिनका मन बँधा-सधा है, वे भला अरसिक, काव्य–वंचित रहेंगे? जिस प्रकार हरि का लीला-रस ही काव्य है, उसी प्रकार उनका जीवन भी तदाकार, काव्यमय है. वे तो उसी क्षण से काव्यमय हैं, जिस क्षण से उनकी आँखें अपने प्रेष्ठ श्यामसुन्दर की मद-भरी, रस-भरी चितवन के जादू से सम्मोहित होगईं, उनके रूपाकर्षण, अंग-अंग-सौन्दर्य, मोहिनी मुरली के माधुर्य से खिंच कर उनका गोपी–भाव-विभावित हृदय उनके पीछे-पीछे जा लगा। देखिये, उनके ही शब्दों में—किसी ब्रजांगना का हृदय–

लगाई संग तब त जब तें मो मन चितयो इनि नैन,
मोरमुकुट सिर धरैं बनमाल गरै हरैं हरैं चलत दै सैन,
चितै चितै तिरछे नैननि करि अधर-सुधा पूरत मधुर बैन,
'रसिक' प्रीतम आधीन करी यों ज्यों मीन तलफत
निसिदिन परत न क्यों हू चैन।

मोरमुकुट की लटक, बनमाला की बिथुरन, रस-चेष्टाओं के साथ मन्द-मन्द गतिवती चितवन, बंक अवलोकनि से किसका मन मुग्ध, लुब्ध न हो जायगा? बरबस उसके नेत्र उनकी लावण्य-राशि और कान वेणु-निगत स्वर माधुरी से तादात्म्य पा गये इस चितवन के जादू से कौन बच सकता है? फिर जब-तब नेत्रों का मिलन ही उसके जीवन का आधार है। उसकी व्याकुलता का अनुमान कीजिये, नेत्र-मिलन और उसकी अवस्था की एक झलक—

जहाँ तहाँ ढरि परत ढरारे प्रीतम तेरे नैंन,
जे निरखत तिनके मन बस करि सौंपति है लै मैंन,

छिनु सनमुख चितै होत टेढे एक कबहुँ अवस्था कबहुँ है न,
'रसिक' प्रीतम तातैं बिनु देखे मो तन नाहिन चैन।

"ढरारे" ही जो ठहरे। न जाने कब, किस पर, किस ओर ढुर जायँ। नटखट, चंचल, चितचोर मोहन जिस पर चितवन डालते हैं, वह उनके वश सदा के लिये हो जाता है। फिर मन को आधीन कर वे अपने पास भी तो नहीं रखते। अपने चिर सहचर कामदेव को लेकर सौंप देते हैं। "काम" रस–मिलन की उत्कण्ठा मन में अनुपल जगरूक हो जाती है। फिर बेचैनी का क्या ठिकाना? उनके रूप-दर्शन के बिना चित पल–पल चञ्चल हो उठता है। उस रूप–मधुरिमा के आस्वाद के लिये उसकी पगली आँखें आकुलित हो उठीं, रति–रस से पगी मीठी चाह एक तीखी टीस पैदा करने लगी। किन्तु उसकी दृष्टि की मर्यादा कुण्ठित होरही है, चाहते हुए भी देख नहीं पारही है—

गुरु-जन-लाज भरी अरी, हौं देखनि न पाऊँ,
जब मोहन चाहत मो तन तब नीची नारि करि जाऊँ,
मन की कहि न सकति काहू सों मन ही माँहि अकुलाऊँ,
विरह वाफ काढनि औरनि सों झूठे ही बतराऊँ,
आवति है मन मेरी ऐसी सिगरी लाज गवाऊँ,
"रसिक" प्रीतम सों प्रीति जोरी सो सखि, कहाँ लौं दुराऊँ।

गुरु-जनों की लाज ..कितनी बड़ी बाधा है? प्रियतम के दृष्टि-पथ पर वह आ गयी है, दोनों ओर परस्पर दृष्टि-विनिमय की आकांक्षा बलवती होगयी। चितवनों की सहज चंचलता आकुलित हो उठी। पर, यह क्या, पलकें भारी होरही हैं, उठते-उठते रह गयीं। कौन इन्हें रोक रहा है? इधर प्रियतम

क्षण-क्षण प्रेयसी के नयनों के सम्मिलन की उत्कट प्रतीक्षा में हैं। इधर वह भी चाह कर भी चौनजरें कर नहीं पा रही है। गुरु-जनों के प्रति लोक-मर्यादा, उनकी लाज का संकोच उसकी चितवनों के मृदुतम तारों पर पड़ रहा है। आँखों से उतर कर धीरे-धीरे यह लाज का भार सर्वांग पर पड़ रहा है। वह गड़ी जारही है, संकोच के मारे सिर नीचा कर के रह गयी। कितनी विवशता है? मन की किसी से कह नहीं सकती, भीतर ही भीतर अकुला कर तिलमिला कर रह जाती है। अपने मन के मीत, उमड़ते हुए भावावेग को अधिक से अधिक गोपन करने का प्रयास करती है। किन्तु भीतर घुटते . सिमिटते धुएँ को किसी प्रकार बाहर तो निकालना ही पड़ेगा। दम घुट कर न रह जाय? अपने को निर्विकार, निर्लेप सी बताती हुई वह इसका भी उपाय ढूँढ़ लेती है: औरों को झूठमूठ ही बता कर वह इस गुबार को भी हलका कर लेती है। "विरह-वाष्प" जो ठहरा। कितनी मनोवैज्ञानिक चातुरी है? किन्तु यह तो अवसर टालने की सी बातें हैं, समस्या का स्थायी हल तो नहीं।

तब वह क्या करे? सारी लोक-लाज के बन्धनों से विद्रोह कर दे? मन में तो बहुत कुछ ऐसी ही आरही है। 'रसिक प्रीतम' की प्रीति का गोपन भी तो एक विडम्बना है। कहाँ तक छिपाये? कितनी ही चातुरी से रहे, वह इस नैसर्गिक प्रवाह को रोक भी तो नहीं सकती? फिर उसके रोकने से भी क्या? वह रसराज श्यामसुन्दर जो अनुक्षण पीछे लगा हुआ है।

रूपाकर्षण और अनुराग की इस भरी-पूरी दशा में, मधुर-मिलन की पल-पल प्रवर्द्धमान लालसा उसके अन्तर में रह-रह कर जाग रही है। लोक-मर्यादा से भीत होकर वह जितना संयम का प्रयास करती है, उतनी ही अधीरता उसमें बढती जारही है। लोक-वेद की विधियों में उसकी आस्था अब उठती जारही है, लोक-परम्पराओं के प्रति विद्रोह की चिनगारियाँ भड़क उठने के लिए उतावली हो रही हैं। निष्ठा, संस्कार में समेटी हुई निष्ठा क्रम-क्रम से डगमगा रही है। दर्शन की उत्कण्ठा कितनी प्रबल है-

जो जैये तो लोक-लाज लहिए देखनि न पैए री, प्रीतम कों,
जो रहिये तो छिनहु रह्यो न जाई हियौ भरि-भरि आवै,
यह दुख सहिए री, कैसे करि.
मन में आवति ऐसी सुत पति गृह तजि भजिए री,
प्रीतम कों नचिए री, उघरि,
"रसिक" प्रीतम जीवन तब रहै जब मिलै एक रस ह्वैं हरि।

कैसा धर्म-संकट उपस्थित है? दोनों ओर जीवन की विडम्बना, लोकापवाद भी नहीं सहा जाता और प्रियतम से "नैन-सैन" किये बिना भी रहा नहीं जाता ... जाती है तो गुरु-जनों के बीच पर-प्रीति की लांछना से जीवन भर तिल-तिल कर घुलेगी। घर रहती है तो एक क्षण भी रहा नहीं जाता। हृदय पीर के आवेग से उमड़ा आरहा है। इस आन्तर उन्मथन से जीना भी दूभर हो जायगा। इस प्रश्न का सुखद हल "सुत, पति, गृह तजि भजिए री, प्रीतम कों नचिए री उघरि" के रूप में निकालने को आज उसका मन होरहा है। अब वह ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुकी है, जहाँ, कोई भी आवरण, कैसा भी विवेक और मर्यादा का संतुलन कैसा भी विचार-सामजस्य उसके लिए अशक्य होगया है। नेह की निर्मल धारा के गम्भीर तल में क्रमशः एक के ऊपर एक ऐसी

कोमल-स्निग्ध-भावनाओं की तहें जमती जाती हैं, जो प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती हुई, अटल अचञ्चल चट्टानों का सा रूप धारण कर लेती हैं, जो डिगाये न डिगेंगी, हटाये नहीं हटेंगी । यही उसकी सुदृढ़ आसक्ति है, अपने मनमोहन के प्रति । वह बढ़ती जारही है, बढ़ती जा रही । अब तो 'रसिक प्रीतम' से एकरस होने में ही उसकी परमावधि, परम कोटि है । उसकी आसक्ति क्रमशः तादात्म्य की ओर गतिवान् है । देखिये तन-मन की लगन का—

लगन मन लागी हो लागी,
कहा करेंगे गुरुजन मेरे हौं प्रीतम रस पागी ।
जब तैं देखौं नैननि भरि करि चित्त ठौर और सब बिसर्यौ,
स्याम किसोर रूपरस पागी ।
कछु न सुहाइ जाइ मन न कहूँ ऐसी बनि आई अनमाँगी,
अब धरियत चित आसपास रहिये कब 'रसिक प्रीतम' सरस पागी ।

'लागी हो लागी' शब्दों से मानों वह गम्भीर उद्घोष कर रही है । प्रियतम के रस में पग कर वह अब गुरुजनों की भी चिन्ता नहीं करेगी । उसका चित्त तो अब एक ही बिन्दु पर .. रूप-रस में केन्द्रीभूत होगया है । एकात्मभाव ही तो प्रेम को पूर्णतम परिणति है .... पूर्ण विलय, अविचल प्रपत्ति ही स्नेह के, प्रीति के, भक्ति के पोषक प्राणतत्व हैं । इसीलिए "जब तैं देखो नैननि भरि करि चित्त ठौर और सब बिसर्यौ" की स्थिति में वह आ पहुँची है । एक ही 'रसनिधि' में आकर सिमिट गयी है, समाहित हो गयी है । यदि प्रसंगवश किन्हीं क्षणों में अन्यत्र चित्त जाता भी है तो सहसा उचट कर लौट आता है । ऐसी अनमाँगी मन की स्थिति बन पड़ी है । सोते-जागते, अहर्निशि उसकी रूपासक्ति अनुक्षण तरगित होरही है । उसकी गति-मति में तीव्रता बढ़ती ही जारही है । रूप की प्यास, मिलन की आस उसके तन-मन को जैसी कसक रही है, वही जानती है । श्यामसुन्दर प्यारे के मादक रूप की एक झलक उसके सपनों में भी उतर कर उसे मद-विभोर बना रही है . देखिये ..

दोनों दरस सुपने में आई,
छिनु एक सुख उपज्यौ मेरे मन गयौ कहै हरि विरह बढ़ाई,
हा हा पाइँ परति हौं तेरे क्यों हू करि लावै न बुलाई,
अब न परत मोपै रह्यो छिनु बिनु भेटैं जिय अति अकुलाई,
यह दुख कहा कहौं सखि तो बिनु मेरें तू ही एक सहाई,
कहा विलंब मुकरत जैबै कों तासा कहत सखो सौहैं खाई,
वह मूरति गडि रही हिए मैं निकसत नाहिन और उपाई,
उठिए हैं सुनि विनती मेरो जसुमति सुत "रसिकन" के राई ।

स्वप्न-दर्शन और उसकी तीखी सम्वेदना का कितना सुन्दर निरूपण है ? रूप-रस की छकी, मादक मोहिनी से ठगी गोपांगना अपने हृदय को अपनी अन्तरङ्ग सहेली के समक्ष खोल कर रखे दे रही है । कितनी विलक्षण रसानुभूति है, कि एक क्षण का वह सुखद संयोग चिरकाल का विरह-संताप दे गया । कैसे रहा जायगा उसे, उस रस-माधुरी को पाये बिना, जो वह सुनहले सपनों के झाने-झीने आवरण में पा चुकी है, आस्वाद ले चुका है । जी अकुला रहा है, उन्मथित, व्यथित रस-लालसाएँ उसके मन को आलोडित-विडोलित कर रही हैं । उसकी प्यारी सखी उसकी प्रणय-विनय को लेकर जाय यही वह चाह रही है । उसे पूरी निष्ठा है, अपने प्यारे में कि वे उसका सन्देश पाकर, उसकी वियोग-पाती को पढ़ कर, तत्क्षण आकर उसके प्यासे नयनों को, उसके तपते-झुलसते प्राणों को शीतल करेंगे । उसकी नस-नस में व्यापी प्रणय-व्याधि का क्या यह कम उपचार है ? इसीलिए तो वह 'हा हा खाकर, पैयाँ पर कर,' 'सोहैं खाकर' उसे प्रियतम की ओर

प्रेरित कर रही है। हृदय में गड़ी हुई श्याम-सलौने की मूर्ति कैसे भी आँखों के आगे सजीव नाच उठे, इस समग्र संयोजन का यही अभीष्ट है, कहती है—

अरी माई देखनि की मोहि चाह पिय के बदन की,
मैरौ सलौनौ नाँह,
फरकत आँख बाँई अधरा उफरत,
अरु फरकत बाँई बाँह.
छिनहु न बिसरत है आली,
मेरे बसत सदाई हिय माँह,
'रसिक' प्रीतम जब देखिहौं नैननि,
तब सुख व्हैहै री छत्रछाँह।

उस 'सलौने नाह' के मिलन के आज कितने मंगल शकुन हो हो रहे हैं। वाम अंगों का स्फुरण अवश्य ही उसके आगमन, भेंट का सूचक है। तत्तदंगों के रस-विषयों को उपलब्ध अवश्यं-भावी है, विदित होता है। वे प्यासी अकुलाई, अलसाई आँखें चिर-वांछित रूप-माधुरी के रस से आज आप्यायित होंगी। अधरों के रस-दान से, युग-युग की तृषा बुझेगी, हृदय का सारा सुधा-स्रोत इन अधरों के तटों पर ही जो उमड़ आने वाला है, स्नेह का अतल रस-निधि आज इन्हीं में बाँध लिया, साध लिया जायगा, फिर अङ्ग-अङ्ग का आश्लेष, सुदृढ़ भुज-बन्धनों में सदा-सदा के लिए समग्र अङ्ग—अङ्ग के साथ आकुञ्चन कितना मादक, मधुर है, कल्पना नहीं होती, तब तक, जब तक कि नयनों के आगे वह अवतरित नहीं हो जाता। यों हृदय में तो वह अनुक्षण बसा ही है।

किन्तु एक बार के नेत्र मिलन के अनन्तर तन-मन की क्या गति होगी, इसे भी कोई भुक्त-भोगी ही अनुमान कर सकता है।

उस रस से वंचित हृदय में कितनी आर्ति, कितनी पीड़ा बिखर रही है, किसी रस-मग्ना के शब्दों में ही अनुभव कीजिये ..

देखि क्यों मन राखि सकै री.

उह मुसकनि उह चालि मनोहर अवलोकत दोउ नैन थके री,
जिनकों अनुभव कबहूँ नाहीं ते घर बैठो न्याउ बकै री,
जिन न सुनो मुरली उहि काननि ते पंछी मृग पसु बिथके री,
बिनु देखे अब रह्यो जात नहिं सुन्दर बदन कुटिल अलकै री,
'रसिक' प्रीतम यह भई अवस्था जे हरि रूप निरखि चटकै री,

'उह' के सन्दर्भ में मुसकनि, चलनि, अवलोकनि का स्वारस्य कैसे व्यक्त किया जा सकता है? नेत्रों की परवशता कहते नहीं बनती। 'स्वसंवेद्य' वस्तु भी क्या वाणी का विषय है? विधि-निषेध, नीति-मर्यादा की बातें उनके लिए कोरी बकवास है। रूप का जादू जिन पर चल चुका है, उस वेणु-माधुरी के रस में जिनका मन बींध गया है, गीध गया है, खग-मृग आदि वनचरों के मन की गति की तरह जो उसमें विथकित, विजडित हो गये हैं, ऐसे गोपांगनाओं के हृदय भला कैसे धीर, गम्भीर, संयत, स्वगत रह सकते हैं? 'सुन्दर-बदन' की 'कुटिल' अलकों में वे तो अटक-अटक कर रह जाते हैं। 'रसिक प्रीतम' के मधुर-मिलन से वंचित उन हृदयों की वियोग-वेला के क्षण कितने असह्य हैं, एक पद में देखिये....

लाल यह बिछुरन सह्यौ न जाइ,

जानि न परयौ रहन ढिग मोकों अब मन अधिक दुखाइ,
धीरज रहै नहिं चैन नैननि कों फिरि फिरि चित पछितात,
मिलिवौ कठिन मोहि सूझत है तन तौ डारत विरह जराइ,

भूलै क्यों वे बात रावरी चलत कहीं मुसिकाइ,
'रसिक प्रीतम' कीजै करुना जो भेंटों अङ्ग लगाइ।

वियोग का आवेग बढ़ रहा है। विरह की ज्वाला उसके अङ्ग अङ्ग को जलाये दे रही है। प्रियतम के नित्य, निरवधि मिलन के क्षणों में, वियोग कितना तीखा होता है, उसमें कितनी दाहकता है, इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी, आज वह इसकी पीड़ा को परख सकी। रह-रह कर पछता रही है, यह सब क्या होगया, क्यों और कैसे होगया? रूप-दर्शन के लिए आँखों की प्यास, प्रीति-रीति के लिए हृदय की आकुलता : सभी प्रकार से वह अधीर है, अङ्ग-प्रत्यंग प्यारे के वियोग में जल-जल कर राख हुआ जा रहा है, सह लेती वह इस सारे आवेग को, यदि उसकी कोई मर्यादा, उसके पाने की अवधि होती। पर जब "मिलिवौ कठिन मोहि सूझत है," यह चिन्तन करने लगती है, तो वह निराश, अन्धकार मे खोयी सी रह जाती है। उसे वो दर्दीली, गम्भीर घड़ी याद आ जाती है, जब कन्हैया ने जाते समय मुस्कानभरी वाणी में वेगि ही लौट आने का आश्वासन दिया था? 'रसिक प्रीतम' की करुणा पर विश्वास करने का यही उसके पास एक क्षीण सा आधार है। 'भैंटों अङ्ग लगाइ' की कामना का इसीलिए वह आज साहस कर रही है। सर्वाङ्ग-आश्लेष ही उसके देह-व्यापी विरह की तपन के शमन का उपचार है। विरह की तीव्रता, उसके उपाय का एक और संकेत वह स्पष्ट-स्पष्ट रख रही है, जिसमें उसके इस विरह-ज्वर का निरूपण, विश्लेषण है ..

विरह व्याप्यौ मेरे सब अङ्ग,
सीतल वृथा उपाय करत क्यों, काट्यौ मैन भुजंग,
जो पाऊँ तौ कहौं उतारै, वह तौ सखा अनङ्ग,

सदा जिवावति ही सो तौ अब रही सुधा हरि सङ्ग,

मुरली मंत्र सुनायौ काननि बैंदुक स्यामा संग,

अपनी वान जाहि हे सजनी जाकी होइ अरधङ्ग,

हौं तौं परगुन कौ चलि कैं, सेस विविध भई अपङ्ग,

रहे प्रान तों हरिमुख देखौं, रसिक नहीं तौ रङ्ग।

"काट्यौ मैन भुजग", अब कहिये, इस सर्प दशन की विष-ज्वाला को नस-नस में लहर छहर रहे जहर को कौन उतार सकता है, सिवा उस 'मैन-मीत' साँवरे के? "कारे" की डसन का निरसन 'कारा' ही कर सकता है। श्यामसुन्दर को संयोगवश इन क्षणों में पा ले, तो वह इस विष को उतारने को कहे, अनंग, सखा कृष्ण अपने ही मित्र की दी हुई पीर का निश्चय ही निवारण कर देंगे। वो अमर संजीवनी तो हरि के साथ गयी, जो अनुपल कोटि-कोटि जीवन-दान का सुख प्रदान किया करती थी।

आज तो श्यामसुन्दर उससे इतनी दूर चले गये हैं कि वह संजीवनी, उसे अधिगत हो सकेगी, कौन जाने .. वही संजीवनी जो उन्होंने अङ्ग-अङ्ग से समेट कर, अलग-अग के निचोड़ रूप में अपनी बंशी में .. बंशी के एक-एक स्वर में संजो रखी है, जिसका एक-एक स्वर विरहिणियों के कानों में संजीवन-मन्त्र बन कर आता है, और इसी संजीवन-मन्त्र का प्रतिरूप, प्रतीक-भावना से बृषभानुनन्दिनी के 'बैंदुक' में बन्दी है। श्यामा-श्याम दोनों ही उसकी रस-मोहिनी से परस्पर मुग्ध हैं। अर्द्धांगिनी जो ठहरीं, उन्हें अपना समग्र रस-तत्व उन्होंने सौंप रखा है। एक वह अभागिनी, वंचिता है, जो स्वगुण' ... अपने आराध्य प्रियतम से विलग होकर अपनी जीवन गति में लड़खड़ा रही है ..

अपंग और अपरूप होकर निष्प्राण सी, निश्चेतन सी विलख रही है।

वियोग की जितनी अवधि बढ़ रही है तादात्म्य उतना ही प्रगाढ़ होता जारहा है। उसकी तन्मयता की पराकाष्ठा का थोड़ा आभास लीजिये ..

सालति पिय की बदन निहारि,
सकी गई ठाडी ज्यों अनत्त लपट सुकुनारि,
पलक न परै सीस नहिं डौलै चरन चलै न विचारि,
कहि न सकी मन की बतियाँ कछु रही विरह मन मारि,
भई दसा ज्यों चित्रपूतरी सकी न वसन सँभारि,
'रसिक' प्रीतम बिछुरत तिय जिय की दीनी प्रीति उघारि।

कितनी एकरस, एकरूपता है, 'किसी' में खोयी सी अपने आप में अपने भीतर समाये हुए रग-रग में विलसित 'प्रिय' में भूली सी। कितने विलक्षण सात्विक भाव हैं। विरह की ज्वाला में वह सुकुमारी खडी की खडी सूखी जा रही है, जली जा रही है, वियोग का लपटों में। उसके सौकुमार्य के साथ उसके नवयौवन की सहज-सुलभ कोमलता की कल्पना कीजिये, जो किसी सुकुमार गुलाब-पुष्प की स्निग्धता और झीनी-झीनी, भीनी-भीनी लहक-महक के मोहक आवरणों में सिमिटा हुआ हो। वह किंचित् ताप से ही कुम्हला सकता है, फिर आग की लपटों में फँस कर वह भला क्यों न जलेगी। करील ज्वाल-मालाएँ, वियोग की अग्नि-शिखाएँ, वन में लगे किसी दावानल की ही तो तरह हैं, जो हरी-भरी वनराजि की देखते-देखते भस्मसात कर देती हैं।

इसी तीखे गहरे वियोग की प्रतिक्रिया है कि उसमें धीरे-धीरे जडता प्रवेश करती जा रही है, उसके अंग-अंग में, उसकी प्रत्येक

अंग-संचालन की प्रक्रिया में 'पलक न परै, सीस नहिं डोलै, चरन चलै विचारि' में उसकी छाया, गहरी अनुभूति और उसका क्रमिक प्रभाव स्पष्ट है। ये ही तो चित्रपूतरी का रूप है, जो अपनी छाया से, किसी कुशल कलाकार की रेखांकित तूलिका-छवि से अपनी व्यथा, अपनी विवशता प्रत्यंग में पली पीडा का आभास भर दे सकती है, किन्तु जिसकी अभिव्यक्ति में उसकी वाणी कुण्ठित है। किन्तु वह अब अपने साहजिक, प्राकृत रूप में आ गयी है, जिससे उसके भाव-गोपन की क्षमता भी उसमें नहीं रह गयी है। भले ही वो आज "कहि न सकी मन की बतियां कछु और रही विरह मन मारि" की स्थिति में हो, किन्तु 'रसिक प्रीतम' 'बिछुरत तिय जिय की दीनी प्रीति उघारि' के अवश्यम्भावी परिणाम को नहीं रोक सकी। चरम वियोग में आत्म-गोपन का कृत्रिम प्रयास नहीं टिक सकता। फिर तो चित्रपूतरी ठहरी, उसका अपने पर कोई संयम नहीं, कोई अनुशासन नहीं।

यह सारा दोष वह अपने नेत्रों के माथे मढ रही है। हृदय और नेत्रों में जो आन्तर संघर्ष छिड़ता है, इस मानव की नेह नगरी में अन्ततः नेत्र ही उसमें विजयी होते हैं। 'प्यार की दुनियाँ' में यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। 'गुप्त-प्रीति' नैनों के द्वारा बाहर आजाती है ..

राखति हो पिय प्रीति गुप्त इनि नैननि ही हो दई उघारि,
देखनि लगो बदन छबि इकटक सबहिन में घूँघट पटौ बिसारि,
छुटि गयी सकुचि कुटिल कच देखत सहचरि सिगरी रहीं विचारि,
'रसिक' प्रीतम तुम हौ मनमोहन हेरि फेरि फिरि हौं रही पचिहारि।

स्पष्ट अभियोग है, खुला आरोप है। 'इनि नैननि हो हो दई उघारि' क्या उसने चाहा था, कि वह उन प्रियतम श्यामसुन्दर

की 'बदन-छवि' को एकटक देखती रहे ? कदाचित नहीं, उसके नेत्रों ने उसे विवश किया। गुरुजनों की बाँधी हुई घूँघट-पट की मर्यादा को भी इन्हीं नेत्रों ने एक ओर उठा कर रख दिया। प्रियतम के रूप का आकर्षण, सौन्दर्य-माधुरी ही ऐसी है। अभिन्नता की परम कोटि में प्रियतम-प्रियतमा के बीच कोई व्यवधान रह भी तो नहीं सकता है। एक रूप दूसरे में उतर रहा है, समा रहा है, आँखों के द्वारा हृदय में मनमोहन की कुटिल अलकावलियों ने उसके संकोच की परिसीमा को, शील और मर्यादा के कठोर कगारों को ढा दिया .. छिन्न-भिन्न कर दिया। लोग देखते हैं, आखिर इसे हो क्या गया है ? सहचरियाँ उसके दुस्साहस को, शिष्टाचार की मानी हुई परम्पराओं और सन्नारियों के आचरण के तथाकथित प्रतिमानों के प्रति निस्संकोच विद्रोह को देख कर चकित रह जाती हैं।

बस, यही तादात्म्य की परमावधि है। रूपाकर्षण, अनुराग, आसक्ति, आर्ति, विरह की विभिन्न क्रम-कोटियों को पार करता हुआ उसका प्रेम परिपक्वता, पूर्ण परिपाक को पहुँच रहा है। तादात्म्य उसका अन्तिम सोपान है, यहाँ गोपागना के हृदय को लेकर उसमें प्रणय की पूर्ण सिद्धि बतायी है। भक्त, कवि, आचार्यों ने साधन ही साध्य, फल जहाँ हो जाता है, वही वास्तविक भक्ति है, पुष्टि है, यह माना है।

श्रीहरिरायजी ने इसी पुष्टि-भक्ति का आदर्श भावुकों के समक्ष रखा है। वे जहाँ भक्ति भावना के विधायक हैं, वहाँ स्वयँ एक साधक गोपी हृदय हैं, जो भक्ति-काव्य के अनुगायन, अनुचिन्तन से साधना की उच्च कोटियों में पहुँच कर साध्य के साथ एकात्मभाव पाते हैं। अपने "रसिक प्रीतम" से एकरसता पाकर उनका गोपी-भाव पूर्णतः प्रतिफलित होता है। ❀

काव्य - संकलन

श्री हरिरायजी 'रसिक' रचित कुछ सरस पद]

रूपाकर्षण

[१]

मो मन रही है बसी मूरति साँवरी,
अरी कैसै देखौं जाइ भरि इनि नैननि,
जमुना के तीर संग लीनै सब ग्वाल-बाल,
मो तन निहारि जब बोलि लई सैननि,
हरि लियौ सरबसु सु दियौ दरसन,
रस बस करि लई हौं मधुर मुख बैननि,
'रसिक प्रीतम' बिनु देखै आली तब तै,
भौन न भावै बलिहारी वाकी तान लैननि।

[२]

देखत बदन सोभा सदन मूरति कौं रहै कैसे लाज राखी,
तू तौ सिखवत मोहि भाँति-भाँति मोपै रह्यौ कैसे परै लाज राखी,
जो मेरे मन होत विरह अगिन जोति ताकौ एक मेरौ हृदौ है जु साखी,
'रसिक प्रीतम' बेगि मिलै आइ मोहि सोई जाइ करौ यातै दीनता भाखी,

[३]

हौं तौ रहि न सकौं बिनु देखै देखै रहेगी कैसै लोकलाज,
मोहन रूप मन मोहि लियौ मोहि भूल्यौ री गृहकाज,

कछु कोऊ कहौ रहौ रूसे कोऊ रहूँ बावरी जोरि समाज,
'रसिक प्रीतभ' की मया के बल मोहिं काहू नहीं डर
पायौ री मैं कुँवर ब्रजराज ।

[४]

पिय तेरी चितवनि ही में टौना,
तन मन धन बिसर्यौ जब ही तैं निरख्यौ बदन सलौना,
ढिंग रहिबे कों होत विकल मन भावत नाहिंन भौना,
लोग चबाब करत घर-घर प्रति धरि रहिए जिय मौना,
छूटी लोकलाज सुत पति की और कहा अब हौना,
'रसिक प्रीतम' की बानिक निरखत भूलि गई गृह गौना ।

[५]

आवत मो सनमुख जब हीं चतुर बरनै या चलनि,
बनमाला चरननि पर लटकति नमित ग्रीव मुख,
हँसनि लसै अति मोरमुकुट हलनि,
कमल फिरावत मधुरे गावत अधरसुधा की मुख तैं गलनि,
'रसिक प्रीतम' की छबि पर बलि जैए री लखि टलनि ।

[६]

बहुरि कब देखौं नंकुमार,
लकुटि लिएँ धावत ब्रजवीथिनि बालक अति सुकुमार,
बिथुरी अलक लटनि लटकति सर राजत मुक्ता हार,
कंठ बघनखा कर पोहोंची सोहति बाजूबंद सुचार,
बैनी जुही जसोदा सुंदर सोभा देति अपार,
'रसिक प्रीतम' की यह बानिक कब ह्वैहै मम सिंगार ।

[७]

माई मेरौ मन मोह्यौ साँवरे अब मोहि घर अँगना न सुहाइ,
ज्यौं ज्यौं आँखिनि देखिए मेरी त्यौं त्यौं जिय ललचाइ,
हेली मनमोहन अति सौहनौ मारग इत निकस्यौ आइ,
मोहि देखि ठाडौ भयौ वह चितयौ रीं मुरि मुसिकाइ,
हेली रूप ठगौरी डारिकै चल्यौ अङ्ग छबि छैल दिखाइ,
नैन सैन दै साँवरौ मन लै गयौ सङ्ग लगाइ,
हेली लोकलाज कुलकानि की मेरे जीय न कछु ठहराइ,
लैकै चलि मोहि स्याम पै कै स्यामिहिं आनि मिलाइ,
हेली प्रान प्रीति बरबस परे अब काहू की न बस्याइ,
रसनिधि वा नँदलाल पै 'रसिक' सदा बलि जाइ ।

अनुराग

८]

हरि की चितवनि भावै,
कर गहि अधर धरै मृदु मुरली नीकीताननि गावै,
गाइ चरावत छाँह कदम की ठाडौ रति उपजावै,
कबहुक करि कटाच्छ इत चितवन नैननि नैन मिलावै,
कघहुक सैननि दैकै मोकों लीला ठौर बतावै,
'रसिकराइ' प्रीतम या विधि सों तन मन धन बिसरावै ।

[९]

लाडिली लालन देखत लाढै,
मोहन मुख देखनि कों आवति घूँघट पट दै आढै,
कबहुक हरि के मुख देखनि कों अपनौ बदन उघाढै,
'रसिक प्रीतम' सों इहि विधि भामिनि अधिक बढावति चाढै ।

[१०]

बिथुरे बार सुथरी सारी सिर तैं उतरी
लागति पुतरी जु ठाढी,
आवत ही पिय के चौंकि लजानि लागी
देह प्रस्वेद मानों रस-सागर में बोरि काढी,
नैन जुरे बिछुरे की बेदन दूरि भई
भई सियराई नई प्रीति जिय बाढी,
'रसिक प्रीतम' के संयोग रस भोग भरी
खरी जुवतिनि मधि गुननि माढी ।

[११]

मेरे साँवरे मोहि दीजै दरस,
इतने ही तैं निहाल होहुँगी छाँडौ हो अङ्ग कौ परस,
पलकनि पग की धूरि झारिहौं स्रवन बचन सुनों सरस,
'रसिक प्रीतम' प्यारे मोहि तुम बिनु पल-पल होत है बरस ।

[१२]

कहाँ पाऊँ पीय कों रे लाग्यौ जासों मन मेरौ,
क्योंई मेरौ मन समझ समझाऊँ कहि हारी घनेरौ,
जा दिन तैं नैननि पथ आयौ ताही तैं भयौ चरन तेरौ,
'रसिक प्रीतम' जाइ अटक्यौ मन क्योंहू न होत निबेरौ ।

[१३]

मेरि अँखियनि की पलकनि सों डगर बुहारूँगी,
जो या घरी मेरौ पिय आवै तन मन जोबन वारूँगी,
सेज सँभारौं चरन तलासों और मधुरे सुर गाऊँगी,
'रसिक प्रीतम' पिय अबकै मिलै तौ नैननि सों समझाऊँगी ।

आसक्ति

[१४]

चंद बदन पर चाँदनी सोहत घूँघट कौ पट मानों सेत सारी,
पिय दृग दोऊ चकोर पीवनि कों मानों विधि राखे सम्हारी,
प्रगट होत तब ही तैं पिय हिय गई विरह अँधियारी,
अचर दूरि करि गरै बाहु धरि भेंटी 'रसिक' पियारी ।

[१५]

बैठी पिय कौ बदन निहारै,
लालन ऊपर वारि वारि मन तन धन जोबन वारै,
कबहुँक निकट जाइ प्रीतम के पगिया पेच सुधारै,
कबहुँक चुंबन करत कपोलनि हेरि चंद उजियारै,
कबहुँक प्रीतम अधर सुधा रस भैंटत अङ्ग उघारै,
'रसिक प्रीतम' के सङ्ग में प्यारी पूरव बिरह बिसारै ।

[१६]

नैना तेरे अति रसमाते,
इनि माँहि अरुन अरुन डोरे कछु लागत सहज सुहाते,
कबहुँक इकटक देखि रहत कबहुँक मुरि मुरि मुसिकाते,
'रसिक प्रीतम' सँग निसिदिन विलसत नैक नहीं सकुचाते ।

[१७]

पिय तोहि नैननि ही में राखूँ,
तेरी एक रोम की छबि पर जगत वारि सब नाखूँ,
भैंटौं सकल अङ्ग साँवल कौ अधर-सुधा रस चाखूँ,
'रसिक प्रीतम' संगम की बातैं काहू सों नहिं भाखूँ ।

[१८]

कैसै मिलै मेरी माई कुँवर कन्हाई मोपै रह्यौ न जाई,
हौं जु गई जमुना जल भरनि कंकरी डारि दई मो पर,
तब तैं कछु न सुहाई ।
जो मोहिं आनि मिलावै उहीं ताहि दैहूँ मनभाई बधाई,
'रसिक प्रीतम' जो तोहि सुखदाई नातरु सब दुखदाई ।

[१९]

माई री मेरौ मन मोह्यौ साँवरे: अब मोहिं घर आँगना न सुहाइ,
ज्यौं ज्यौं आँखिनि देखियै मेरौ त्यौं त्यौं जिय ललचाइ,
मनमोहन अति सोहनौ इत ह्वै मारग निकस्यौ आइ,
मोहि देखि ठाडौ भयौ वह चितयौ री मुरि मुसिकाइ,
रूप ठगौरी डारि कै चल्यौ अङ्ग छबि छैल दिखाइ,
नैन सैन दै साँवरौ मन लै गयौ मेरौ संग लगाइ,
लोकलाज कुलकानि की मेरे जिय कछु न ठहराइ:
लैकै चलि मोहि स्याम पै कै स्यामहि आनि मिलाइ,
प्रान प्रीति बस परी अब काहू की न बस्याइ,
रसनिधि बालक नंदलाल पै 'रसिक' सदा बलि जाइ ।

[२०]

कहियत फूल अनंग के बान,
लगत कठिन ह्वै सरस डौर लखि मरम बचाउ करत नहिं आन,
उर धँसि रहत निकारै न निकसत
हरत जुवतिजन के मन मान,
एतौ बल है कहा कुसुम कौ जानत मुरली नाद निदान,
अब न उपाउ कछु मोहि सूझै मन में रह्यौ कछु न सयान,
'रसिक प्रीतम' जो आइ मिलै अब काढि दैइ रस रूप निधान ।

[२१]

जब तुम मुरली टेर सुनाई,
विकल भई तन मन अति व्याकुल छिनहु रह्यौ नहिं जाई,
लोक वेद कुलकानि सबै तजि तुमहिं मिलनि उठि धाई,
तुम या बन तैं गए आनि वन हौं अति दूरि भ्रमाई,
स्वास न बदन समाइ पसीना आँगिया सबै भिजाई,
थाके चरन चल्यौ नहिं जात है करि बल मैन हराई
सुनिकै बसन देह स्रम मिटिगौ हरि हँसि बाँह गहाई,
द्यौस विपिन विहरत दोऊ रस मय 'हरि' राधा सुखदाई ।

[२२]

तुम बिनु प्रीतम मोहि छिनु न सुहाई,
सो नहिं पायौ परम कृपानिधि जो मग दियौ तुम मिलन बताई,
लोग चबाऊ सब घर घर प्रति ठालेठूले करत चबाई,
सुमिरत ही वह टेढ़ी चितवनि देखनि कौं मेरौ मन ललचाई,
कहा कहौं कछु कहि नहिं आवै तन मन धन सब रह्यौ बिकाई,
'रसिक प्रीतम' अब कैसे मिलिहै मोहि नहिं सूझत कछुक उपाई ।

आर्त्ति

[२३]

चतुर चितै चित चोरि लियौ,
चपल कटाच्छ सुलच्छन मिलिकै छिनु में बिकल कियौ,
भूल्यौ भवन गवन तबही तैं सब सुख हरि हिए विरह दियौ,
'रसिक प्रीतम' गति औरु भई मन की छिनु छिनु भरि आवै हियौ।

[२४]

पिय बिनु जागत रैन गई,
अवधि बदि गए सो नहिं आए बड़ी बेर भई,

कछुक हँसत बातैं जु करत कछु कौन ये सीख दई,
साँच नहीं बोलत एकौ अंग कहा रीति लई,
कैसे कीजै बिसवास बचन कौ मन भय हौ बिसई,
'रसिक प्रीतम' रावरी है छिन छिन गति कछु प्रगट नई ।

[२५]

अरी मोहि कठिन परी दुहुँ भाँति,
लाज तजौं तौ प्रीतम लाजै न तजै पीर बढाति,
लागे बान कठिन उर मेरे काढै हू न कढाति,
छिन छिन हाइ हाइ करि क्यों हू काल गँवावति जाति,
मन की कहि न सकति काहू सों मन में तौ न समाति,
'रसिक प्रीतम' जब मिलिकै बिछुरे कहा कुराति सुराति ।

[२६

मदनगोपाल बिना बन बन बावरी डोलौं,
बूझति फिरौं विपिन द्रुमवेली अनबोलेन सों बोलौं,
ऐसौ कोऊ न मिलौ मोकौं सखि जा आगै मन खोलौं,
'रसिक प्रीतम' मन मिली न सहचरी कहि जीवन अब कोलौं ।

[२७]

ऐसी निठुराई मन आई कब तैं पाती हू न पठवत तबतैं.
कहा करत पिय सकुच कौन की ऐसे भए कौन ढब तैं.
हौं तौ तरसति संदेस सुनिवे कौं व्रज तजि चले जब तैं..
'रसिक प्रीतम' न रह्यौ कछु मो में तुमरे बिनु गई सबतैं ।

[२८]

कहा चित लाई हो ललन निठुराई,
दीजै दरस छाँडि दीनी दया कोनी कहा भलाई,

मोसों कही कछु कीनीं कछू तुम ऐसी बात बनाई,
'रसिक प्रीतम' बूझो अबहि रावरे कछु मन की गति पाई ।

[२९]

प्राननि हू तै प्यारे छिन होहु न न्यारे,
वचन सुननि कों स्रवन तरसत हैं देखनि कों दृग तारे,
तन तलफत है नित मिलिवे कों रसना अधरसुधा रे,
'रसिक प्रीतम' इतनी सुनि विनती प्रगटे बेनु सँभारे ।

[३०]

प्यारे दरस की ही खैंचि काहे न लेहि प्रान ऐंच,
अपुनौ तन मन धन जोबन सबै रही हौं बेंच,
जैसे लगि हारिल की लकरी सूआ रहत दै चैंच,
'रसिक प्रीतम' मन ऐसै लाग्यो अब किनि छुटै अनैंच ।

[३१]

नैक बोलो नाथ अमृत रस बैन,
और न सुहाइ घरी करति हौ हाइ नित
चित लागत कहूँ नहीं चैन,
दीन जन मन मनोरथ के पूरन करन
औरु तिहुँ लोक में देखियत है न,
जो मिलत आइ ते लेत रस बस भाय
कहौ हरि कैसै हरि मन रहे ऐन,
अरथ सब रावरौ है तिहारे हाथ नाथ
कहौ और समरथ है को दैन,
'रसिक' पिय जानि कठिन होहु जन दीन पर
परसिकै तजत यह लखन तौ घटै न

[३२]

विरह

विरहिनि कौन नींद निसि सोवै,
सुमिरि नाथ ब्रजनाथ प्रानधन कहि उर अंतर रोवै,
कबहुक नैन उघारि चकित व्है प्रान प्रीतम मग जोवै,
कबहुक विव्हल विकल दीन व्है आपुनौ प्रान बिगोवै,
कबहु देखि लीलामय मोहन आपु अपुनपौ खोवै,
कबहुक फिरति सकल वृंदावन चरनकमल चिन्ह ठोवै,
'हरि' पहिरावन कारन कबहू माल कुसुम कर पोवै,
प्रेम नीर विरहानल पजर्यौ तुम बिनु कौन समोवै।

[३३]

जानै कौन विरह की वेदन,
देखे बिनु मुख विधु मोहन कौ क्यों हू न मिटत महा मन खेदन,
टूटत आसा हरि मिलिवे की काहू भाँति रह्यौ कछु भेद न,
'रसिक प्रीतम' छिनहि जनि बिसरौ और उपाव नहीं दुख छेदन।

[३४]

ता दिन तै विरह जरी,
जा दिन तै मो पर मनमोहन तिरछी दृष्टि करी,
हिएँ पीर मनमथ की बाढी लोकलाज सब रही डरी,
घर न सुहाइ अटक्यौ मन माँही प्रेम ठगौरी आनि परी,
जुग सम बीतत बिन प्रीतम मोहि मन यह निस्चै बात अरी,
'रसिक प्रीतम' कहि बेगि आइहै अब यह जीवन पहर घरी।

[३५]

ढूँढति बन बन फिरति अकेली,
हरि गयौ सर्बस हर किहि मारग बूझति द्रुमबेली,

अति अकुलाति सुहात नहीं कछु कहा ठगौरी मेली,
'रसिक प्रीतम' के विरह विकल तन भूली संग सहेली।

[३६]

बिनु देखै पिय तेरे मेरे नैन तपै,
जब जब बन में धैनु चरावत बेनु बजाई रहे धुनि वे,
कसे जाऊँ उपजति मन ऐसी पाऊँ सुख सुन्दर प्रीतम पै,
'रसिक प्रीतम' सहि सकौं बिरह नहिं छूटौ कैसे अनंग सर पै,

[३७]

उघरि गए बदरा चंद छबि दई दिखाई,
मानौं विरहिनि विरह अगिन उठि मूरति गगन बनाई,
मानौं जुवतिनि हृदयकमल मूँदनि प्रगटायौ हिम कुंडल की नाईं,
देत मदन 'रसिकन' सुख यामै ताकी देखियति भसम समाई,

[३८]

अहो हरि दीन्हीं मोहि बिसारि,
बहुत द्यौस भए प्रभु मनभावन पठई न पतियाँ सँभारि,
हौं तौ भरी बहोत अपराधनि तुम करुना ब्रत धारि,
गही हाथ अपने मानत मनि दीजत कैसे डारि,
राखि लेहु ढिंग चरन कमल के बिसन समूह निवारि,
करहु जु दृष्टि धृष्ट दासी पर चित राखौ रिस टारि,
सरन जाहि अब रहौं कौन पै तुम तजि अबला नारि,
'रसिक प्रीतम' बिछुरै मोहि विरहा छिनु छिनु डारत मारि।

[३९]

प्राननि हूँ तै छिनहु जिनि होहु न्यारे,
वचन सुननि कों स्रवन तरसत हैं देखनि कों दृग तारे,

भेंटनि कों भुज जुग पीवनि कों अधर सुधा रसना रे,
'रसिक प्रीतम' तुम विरह बावरे ब्रज जन किए बिचारे।

[४०]

मैं मन हरिजू के हाथ दयौ,
ताही के सँग सरबस अरप्यौ विरहा माँगि लयौ,
कहा होत अकुलाएँ सजनी नित कौ सोच भयौ,
कैसे जाइ धिकारौ जतननि उर में पैठि गयौ,
सूझत नाहिं उपाइ मोहि अब नैननि आइ छयौ,
जारै नहीं जिवावै नाहिंन यों जीवन लजयौ,
पीरी भई सखी री या दुख तपत सरीर तयौ,
धीर न लाज बिवेक सकल सुख सूनी ज्ञान ठयौ,
अब हौं हारी हौं सहि सहि दुख छिन छिन होत लयौ,
"रसिक सिरोमनि" हौं अपुनै कर दुख कौ बीज बयौ।

[४१]

पठावत नाहिंन प्रीतम पतियाँ,
कौन मेरौ अपराध धरौ मन,
ऐसे निठुर भए भूलि गए वे बतियाँ,
जो सुमिरै तौ बढै दुख दूनौ
बिनु सुमिरै छिनहु गृह न भतियाँ,
रह्यौ न परै छिनहु बिनु देखै विरह दहत छतियाँ,
परी पुकारौं हाइ हाइ करि धीरज परिहरि दिन रतियाँ,
तुमहिं न बूझियै ऐसी 'रसिक' पिय मानत नाहिं जू बिनतियाँ।

तादात्म्य

[४२]

आजु मैं दोऊ देखे एक,
इत देखौ तौ हरि उत राधा क्यों हू न होइ बिवेक,

हारे नैन निहारत सजनी करि न सकत तन छेक,
एक होइ सो है क्यों लखियत सोहत रूप अनेक,
मति हारी सोचत सुनि सजनी छिप्यौ एक में एक,
एक मूल द्वै पात एक द्रुम 'रसिक प्रीतम' रस टेक।

[४३]

श्रीवृंदावन निकुंज ठाढे उठि भोर,
बाँहैं जोरि बदन मोरि हँसत सुरतिरस विभोर,
सकुचत पुनि कछु लजात नैननि की कोर,
कबहुक करत बेनु नाद पायौ रस सुधा स्वाद
पछी जन प्रेम मुदित बोलत चहुँ ओर,
'रसिक प्रीतम' छबि निहारि प्रगट्यो रवि जिय बिचार,
बार बार उमगि तहाँ नाचत है मोर।

[४४]

वृंदावन सघन कुंज माधुरी द्रुम भवँर पुंज,
नित बिहार प्रिया प्रीतम देखिबौई कीजै,
गौर स्याम नंद किसोर सुंदर अति चित्तचोर,
निरखि निरखि रूप सुधा नैननि भरि पीजै,
सखियनि संग करत गान सारंग सुर लेत मान,
मंद मंद मधुर मधुर सुनि सुनि सुख लीजै,
बाढ्यौ अति हिय हुलास प्रफुलित सब सुखद हास,
तन मन धन 'रसिक' ऊपर बारनें करि दीजै।

[४५]

नवल नागरि नवल नागर किसोर मिलि,
कुंज कोमल कमल सिज्या रची,
गौर साँवल अंग रुचिर तापर मिले—

सरस मानों नीलमनि मृदुल कंचन खची,
सुरत नीवी बंध हेत प्रिय भामिनी कुच भुजनि में
स्रमजल कलह् मोह्न मची,
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोस हुंकार
गर्वजुत अंग भामिनी लची,
कोक कोटिक कला रह्त मन पीय कौ
विबिध कल माधुरी रति काम नाहिंन बची,
प्रनय मै 'रसिक' ललितादिक सखी सब
पियत मकरंद सुखरासि अंतर नची।

[४६]

कुसुम सेज पिय प्यारी पौढे करत हैं रस बतियाँ,
हँसत परस्पर आनँद हुलसत लटकि लटकि लिपटावत छति
अति रसरंग भीने रीझे री रिझवार
एक तन मन भई एक मति गति
'रसिक' सुजान निरभय क्रीडत दोऊ,
अग अंग प्रतिबिंबित दोउनि के बसन भतिय

[४७]

देखि सखी खेलत ब्रजनाथ,
कौन कह्त ह्रि छाँडि गए ब्रज आवत हैं गोधन के
बैनु बजावत गति उपजावत कमल फिरावत बाँयै हाथ,
यों ही भाँवरि करति निरंतर ब्रज जन 'रसिक' रटत गुन गा